अनौपचारिका

समकालीन शिक्षा-चिन्तन की मासिक पत्रिका

वर्ष : 52 अंक : 11 कार्तिक-मार्गशीर्ष वि.सं. 2082 नवंबर, 2025 पृष्ठ-28 RNI 43602/77 ISSN No.2581-981x

प्रशासन के अंदर की बात बताने वाली किताब पर चर्चा

ब्यूरोक्रेसी को कभी 'आयरन फ्रेम' कहा जाता था, जिसे 'आयरन कर्टेन' की तरह भी महसूस किया गया। सत्ता के गलियारों में ब्यूरोक्रेसी के बंद कमरों में क्या और कैसे होता है अब भी रोमांचक रहस्य बना हुआ है। इसलिए जब भी किसी ब्यूरोक्रेट का आत्मकथ्य आता है तब आम पाठक की उसमें हमेशा रुचि रहती है। अवकाशप्राप्त भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी राजेन्द्र भाणावत की ऐसी ही एक पुस्तक 'अ व्यू फ्रॉम विदिन' का पिछले दिनों राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति में लोकार्पण हुआ और उस पर गंभीर चर्चा हुई।

भगवान महावीय विकलांग सहायता समिति के प्रमुख तथा पद्मभूषण से अलंकृत पूर्व आईएएस देवेन्द्र राज मेहता ने पूर्व न्यायाधीश पानाचन्द जैन के साथ पुस्तक का लोकार्पण किया।

प्रशासनिक प्रबंधन के विशेषज्ञ एवं मोटीवेशनल स्पीकर रमेश अरोड़ा की अत्यंत सधी और संतुलित टिप्पणी ने चर्चा का आधार तैयार कर दिया जिस पर बाद में भारत सरकार के रक्षा सचिव रहे एन. एस. सिसोदिया, राजस्थान राजस्व मण्डल के अध्यक्ष रहे आई. सी. श्रीवास्तव, मीनाक्षी हूजा, पी. एन. भण्डारी, जाने-माने लेखक और समीक्षक, द्वारका प्रसाद अग्रवाल, पीयूसीएल की अध्यक्ष कविता श्रीवास्तव, गोरखपुर विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति अशोक कुमार, हरिदेव जोशी पत्रकारिता एवं जनसंचार विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति सनी सेबस्टियन, पूर्व विधि सचिव जी. एस. होरा, समाजसेवा के लिए पद्मश्री अलंकृत माया टंडन, राज्य महिला आयोग की पूर्व अध्यक्ष लाड़ कुमारी जैन तथा अकादमिक विशेषज्ञ सतीश बत्रा ने भी पुस्तक और उसके लेखक की प्रशंसा की।

गांधी जयंती पर प्रार्थना सभा

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति में गांधी जयंती की सुबह प्रार्थना सभा में बापू की शिक्षाओं को याद किया गया।

सभा में जाने माने संगीत गुरु राजेंद्र जडेजा ने अपने कोमल स्वरों से वितान बनाया जिसमें तबला वादक परमेश्वर ने उसे बेहरीन तरीके से थामा। जडेजा साहब की दो शिष्याएं विनीता शर्मा तथा नीलम अग्रवाल ने भी गांधी के प्रिय भजन गाए। युवा शास्त्रीय गायक हुल्लास पुरोहित के अद्भुत गायन के साथ कार्यक्रम संपूर्ण हुआ।

वाणी

विद्या नाम नरस्य रूपम् अधिकम् प्रच्छन्नगुप्तं धनम्।
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः।।

- सुभाषित

विद्या मनुष्य का सबसे बड़ा रूप और गुप्त धन है।
यह भोग, यश और सुख देती है तथा सभी गुरुओं की गुरु मानी जाती है।

समानो मन्त्र: समिति: समानी समानं मन: सहचित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये व: समानेन वो हविषा जुहोमि।।
समानी व आकूति: समाना हृदयानि व:।
समानमस्तु वो मनो यथा व: सुसहासति।। ऋग्वेद

अनौपचारिका

समकालीन शिक्षा-चिन्तन की पत्रिका

वर्ष : 52 अंक : 11 कार्तिक-मार्गशीर्ष वि.सं. 2082 नवंबर, 2025 मूल्य : पचास रुपये

क्र म

वाणी

3. सुभाषित

संपादकीय

5. परिक्षा का भय नहीं आनंद हो

लेख

7. ला: सलो क्रॉस्नॉहोरकै के लेखन में पलय भी ध्यान मग्न हो जाता है

– त्रिभुवन

अध्ययन

10. उपन्यास पढ़ने में महिलाएं पुरुषों से आगे

–एरिक वीनर

स्मृतिशेष

12. विनम्रता के साथ लोगें में मेल कराता था जुबीन का संगीत **– डॉ. संजय सिंह**

14 नोबेल पुरस्कार-2025

लेख

16. स्व-भाषा को छोड़ना अपनी जड़ों से कटना

– डॉ. कन्हैयालाल खोंड़पकर

18. युवाओं की सत्ता प्रतिष्ठानों के प्रति नाखुशी

– कुणाल पुरोहित

रपट

20. स्कूली शिक्षा की लागत का पहली बार राष्ट्रीय सर्वे

– डॉ. लता व्यास

लेख

22. वेनिस असल में उल्टा जंगल है

– अन्ना ब्रेस्सनीन

24. सात्विक जीवन में छिपा है अहिंसा और प्रेम का रहस्य **– सुज्ञान मोदी**

स्मृति शेष

26. पीयूष पांडे : विज्ञापन जगत जिनका हमेशा ऋणी रहेगा

27. अभिनेता असरानी नहीं रहे

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति

7-ए, झालाना डूंगरी संस्थान क्षेत्र,

जयपुर-302004

फोन : 2700559, 2706709, 2707677

ई-मेल : raeajaipur@gmail.com

www.raea.in

संपादक :
राजेन्द्र बोड़ा
प्रबंध संपादक :
दिलीप शर्मा

संपादकीय

परीक्षा का भय नहीं आनंद हो

भारत में शिक्षा का अर्थ आज भी अधिकांश लोगों के लिए केवल 'परीक्षा में अच्छे अंक लाना' बना हुआ है। बच्चों के जीवन में परीक्षा का डर इस कदर घर कर गया है कि कई बार वे अपनी प्रतिभा, आत्मविश्वास और मानसिक संतुलन खो कर अनर्थ कर बैठते हैं। परीक्षा का भय स्कूल से लेकर कॉलेज और प्रतियोगी परीक्षाओं तक हर स्तर पर दिखता है। असली प्रश्न यह है कि क्या शिक्षा का उद्देश्य केवल अंकों की प्रतिस्पर्धा होना चाहिए? क्या पढ़ाई का मकसद ज्ञान अर्जन से हटकर रैंक और प्रतिशत तक सीमित रह जाना चाहिए?

बच्चे जन्म से जिज्ञासु होते हैं। वे चीज़ों को जानना, समझना और प्रयोग करना चाहते हैं। पर जैसे-जैसे वे औपचारिक शिक्षा प्रणाली में आते हैं, उनकी जिज्ञासा पर अंक, रिपोर्ट कार्ड और तुलना का बोझ डाल दिया जाता है। माता-पिता, शिक्षक और समाज सभी उनसे यह अपेक्षा करते हैं कि वे सबसे आगे रहें। नतीजतन, शिक्षा ज्ञान नहीं, बल्कि एक दौड़ बन जाती है ' जिसमें पीछे रह जाना 'असफलता' कहलाता है। यही मानसिकता परीक्षा को भय का रूप देती है।

आज की शिक्षा प्रणाली में मूल्यांकन का आधार मुख्यतः लिखित परीक्षा है, जिसमें याददाश्त का अधिक महत्व है। रटना, नोट्स तैयार करना और समय पर उत्तर पत्रिका भरना ' यही सफलता की परिभाषा बन गई है। ऐसे में जो छात्र रटने में अच्छे हैं, वे 'टॉपर' कहलाते हैं, जबकि जिनकी समझ गहरी है लेकिन वे अभिव्यक्ति में कमजोर हैं, वे पिछड़े माने जाते हैं।

यह प्रणाली बच्चों में असमानता और असुरक्षा पैदा करती है। छात्र अपनी तुलना दूसरों से करते हैं और यह प्रतिस्पर्धा धीरे-धीरे ईर्ष्या, तनाव और आत्महीनता का कारण बनती है और शिक्षा का असली लक्ष्य ' जीवन के लिए सीखना ' कहीं खो जाता है।

परीक्षा के भय से बच्चों में मानसिक दबाव, नींद की कमी, घबराहट और आत्मविश्वास की कमी जैसी समस्याएं पैदा होती हैं। भारत में हर साल हजारों छात्र परीक्षा और परिणामों के दबाव के कारण अवसाद और आत्महत्या जैसी स्थिति में पहुंच जाते हैं। यह स्थिति केवल छात्रों की नहीं, बल्कि परिवारों की भी चिंता बन गई है। अगर हमें शिक्षा को भय और प्रतिस्पर्धा से मुक्त करना है, तो हमें उसकी जड़ों में परिवर्तन लाना होगा। परीक्षा का स्वरूप बदलना जरूरी है ताकि वह बच्चों के सीखने की प्रक्रिया को मापे, न कि उनकी याददाश्त को।

शिक्षा को सालभर की प्रक्रिया माना जाए, जिसमें बच्चों के प्रोजेक्ट, सहभागिता, व्यवहार, रचनात्मकता और समस्या-समाधान क्षमता को भी अंक दिए जाएं। इससे परीक्षा एक दिन की नहीं, बल्कि पूरे साल के सीखने की प्रक्रिया का हिस्सा बनेगी।

खुले प्रश्न और विश्लेषणात्मक मूल्यांकन का उपयोग कारगर होगा। प्रश्नपत्रों में रटने वाले प्रश्नों के बजाय सोचने, विश्लेषण करने और अपने विचार व्यक्त करने वाले प्रश्न शामिल किए जाएं तो इससे छात्रों में विचार करने की क्षमता विकसित होगी और वे परीक्षा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम मानेंगे, न कि डर का कारण।

जिस तरह के हालात अभी बने हुए हैं उनमें स्कूलों में काउंसलिंग को अनिवार्य किया जाना चाहिए। शिक्षक और अभिभावक बच्चों को यह समझाएं कि असफलता जीवन का अंत नहीं, बल्कि सीखने का अवसर है। बच्चों को यह भरोसा दिलाना जरूरी है कि उनकी पहचान केवल अंकों से नहीं, बल्कि उनके व्यक्तित्व और मेहनत से है।

प्रतिस्पर्धा की जगह सहयोग की भावना जगाना भी शिक्षा का काम है। शिक्षा प्रणाली में 'सहयोग' को महत्व दिया जाए। बच्चों को टीम में काम करने, एक-दूसरे से सीखने और मिलकर समस्याएं हल करने की प्रेरणा दी जाए। जब शिक्षा सहयोगात्मक बनेगी, तो तुलना और भय अपने आप कम हो जाएगा।

ऐसी शिक्षा के लिए शिक्षक और अभिभावकों दोनों की भूमिका महत्वपूर्ण है। शिक्षक यदि बच्चों को प्रेरित करने वाले बनें, डांटने वाले नहीं, तो बच्चे उन्हें मार्गदर्शक के रूप में देखेंगे, डर के रूप में नहीं। अभिभावकों को अपने बच्चों से यह कहना चाहिए कि अंक तुम्हारी कीमत नहीं तय करते। घर और स्कूल दोनों जगह यह वातावरण बनाया जाए कि गलती करना भी सीखने का हिस्सा है। जब बच्चे यह समझने लगेंगे कि शिक्षा का अर्थ केवल सफलता नहीं, बल्कि आत्म-विकास है, तब वे परीक्षा से डरना बंद कर देंगे।

भारत की नई शिक्षा नीति इसी दिशा में कुछ सकारात्मक बदलाव लाने की कोशिश करती है। इसमें 'समग्र मूल्यांकन', 'प्रोजेक्ट आधारित शिक्षा', और 'जीवन कौशल आधारित सीखने' पर जोर दिया गया है। यह नीति कहती है कि परीक्षा छात्रों के विकास का साधन हो, न कि डर का कारण। यदि इसे सही ढंग से लागू किया जाए, तो आने वाले वर्षों में भारतीय शिक्षा प्रणाली अधिक मानवीय और छात्र-केंद्रित बन सकती है।

शिक्षा आनंद का माध्यम बन सकती है यदि परीक्षा का भय समाप्त हो जाय। ऐसा शिक्षा को उसकी मूल आत्मा ¯ज्ञान के लिए सीखना ¯ से जोड़ने से हो सकता है। हमें बच्चों को यह सिखाना होगा कि शिक्षा जीवन की यात्रा है, न कि एक प्रतिस्पर्धा का मैदान। जब स्कूलों और घरों में यह माहौल बनेगा कि सीखना आनंद है, गलती करना स्वाभाविक है, और हर बच्चे की अपनी प्रतिभा है ¯ तब शिक्षा भय से नहीं, प्रेम से जुड़ जाएगी। प्रतिस्पर्धा का स्थान सहयोग लेगा, और परीक्षा एक डर नहीं, बल्कि आत्म-खोज का अवसर बन जाएगी। तभी हम कह सकेंगे कि हमारी शिक्षा सच में 'मनुष्य निर्माण' का माध्यम है, न कि 'अंक निर्माण' का।

शिक्षा का उद्देश्य किसी को सबसे आगे बनाना नहीं, बल्कि हर बच्चे को अपनी दिशा में आगे बढ़ने की प्रेरणा देना है। जब यह सोच समाज में जगह बना लेगी, तब परीक्षा का भय स्वयं मिट जाएगा ¯ और शिक्षा सच में ज्ञान का उत्सव बन जाएगी।❑

ला:सलो क्रॉस्नॉहोरकै के लेखन में प्रलय भी ध्यान मग्न हो जाता है

❑

त्रिभुवन

साहित्य के नोबेल पुरस्कार की बेताबी से प्रतीक्षा होती है। इस साल का साहित्य का नोबेल पुरस्कार हंगरी के लेखक ला:सलो क्रॉस्नॉहोरकै को दिए जाने की घोषणा हुई है। स्वाभाविक है कि इस अवसर पर उनके लेखन की चर्चा पूरे विश्व में होगी। क्रॉस्नॉहोरकै के लेखन और उसके महत्व का वरिष्ठ लेखक-पत्रकार त्रिभुवन परिचय करा रहे हैं। सं.

❑

कुछ लेखक तूफ़ान की तरह आते हैं तो कुछ तूफ़ान के चले जाने के बाद के लंबे सन्नाटे की तरह। ला:सलो क्रॉस्नॉहोरकै आंतरिक रूप से इतने गंभीर हैं कि उनके लेखन में प्रलय भी ध्यान मग्न हो जाता है। स्वीडिश अकादमी ने उन्हें 2025 के लिए नोबेल पुरस्कार विजेता घोषित किया है। 1980 में सृजन की यात्रा शुरु करने वाले इस लेखक को अपने लेखन के 45वें वर्ष में यह पुरस्कार मिला है।

पुरस्कार की घोषणा के वक्तव्य में कहा गया है, उनकी सम्मोहक और दूरदर्शी कृति प्रलयंकारी आतंक के बीच कला की शक्ति की पुष्टि करती है। दरअसल, वे अर्थ के अतुलनीय खंडहरों में कला को ऐसे प्रतिष्ठित करते हैं, मानो लेखन पहले से ही धुएं से लबरेज़ किसी कमरे में टिमटिमाती आख़िरी मोमबत्ती हो। जीवन की जटिलता, दार्शनिकता और अपोकैलिप्टिक थीम्स पर आधारित ऐसी अनोखी शैली अन्यत्र दुर्लभ है।

उनकी पहली ही कृति सातांतंगो (1985) ने निराशा के एक नए व्याकरण की घोषणा की थी। यह कृति विनाश की दहलीज़ पर खड़े लोगों का जैसे शोकगीत है। इसमें समय किसी मरते और कुलबुलाते हुए कीड़े की तरह ख़ुद पर टूट पड़ता है। इसमें ला:सलो क्रॉस्नॉहोरकै के सभी पात्र प्रतीक्षा कर रहे हैं - प्रतीक्षा अर्थ की, मृत्यु की, रहस्योद्घाटन की। हालांकि यह मालूम है कि कोई भी कभी नहीं आएगा; लेकिन प्रतीक्षा जैसे इस कृति का कोई अविनाशी तत्व है।

रोमानियाई सीमा के पास हंगरी के छोटे से शहर ग्युला में 1954 में जन्मे ला:सलो क्रॉस्नॉहोरकै की चेतना ने उत्तर-साम्यवादी यूरोप के धूसर अवसाद भरी आबोहवा में रूपाकार लिया। वे एक विकल भूगोल और बेचैन वैचारिकी की पैदाइश हैं। थकान और अंतहीन प्रतीक्षा से आप्लावित भूगोल और मोहभंग के बाद की खंडित वैचारिकी उनके लेखन में दमकती है।

उन्हें साहित्य का नोबेल पुरस्कार मूलत: उस हंगेरियन भाषा और साहित्य के लिए भी है, जो अपने भीतर से एक पारदर्शी अंधेरे की झील की तरह है, जिसकी गहराई में उतरते ही अर्थ की असंख्य तरंगें उठती हैं और जिसमें में हर शब्द अपनी ही छाया से प्रतिध्वनित होकर संवाद करता है। यह वह भाषा है,

पर, तो उनके गद्य में पूर्वी मौन का व्याकरण और जुड़ गया। उनकी किताब डिस्ट्रक्शन एंड सॉरो बिनथ दँ हैवेन्स में यही मौन मंथन करता है। जैसे वह बौद्ध विहार में ठहरे किसी पश्चिमी प्रेमिल प्रेत की नोटबुक हो। उनकी भाषा को देखें तो वह फुल स्टॉप को मानो नकारने की कला है। उनका हर वाक्य एक सर्प की तरह है, जो अपनी पूंछ को निगल जाने का आदी है। एक ऐसी विलक्षण निरंतरता और ऐसा वेगवान प्रवाह, जो पाठक को षड्दर्शन के पाठ की तरह थका और ऊबा देता है; लेकिन अंत में वही थकान गहन अनुभूति बन जाती है। उन्होंने विवाह किए, प्रेम किए, बेटियां पाईं; लेकिन हर बार प्रेम उनके लेखन की तरह ही रहा। लंबा, असमाप्त और विरामविहीन।

जिसमें व्याकरण भी एक प्रकार का संगीत है और व्यथा, एक अलंकार; जहां हर वाक्य अपने जन्म से पहले ही किसी पुरानी किंवदंती की गंध लिए रहता है। हंगेरियन साहित्य की यह विशेषता है कि वह मनुष्य को नहीं, उसकी छाया को बयान करता है। एक प्रश्न उनके साहित्य के अध्ययन के बाद उठता है कि, क्या मनुष्य अपनी ही भाषा में निर्वासित हो सकता है? यही, शायद, हंगेरियन साहित्य की महत्ता है कि वहां हर लेखक अपने ही शब्दों में खो जाता है, और फिर भी, कोई उसे ढूंढ लेता है। यह एकांतप्रिय लेखक क्रॉस्नॉहोरकै जीवन का सबसे बड़ा आश्चर्य भी है।

हम जब इस हंगेरियन भूलभुलैया के इस यात्री को पढ़ते हैं तो साफ़ लगता है कि उसका जीवन एक उपन्यास नहीं, विरामहीन वाक्य है। एक ऐसा वाक्य जो सांस नहीं लेता, पाठक से उसकी सांसें छीन लेता है। आख़िर ऐसा क्यों न हो, क्योंकि उसके साथ यही तो घटित हुआ था। उसके पिता की छिपी हुई यहूदी पहचान, जो उसे ग्यारह वर्ष की उम्र में किसी आकस्मिक दोपहर की तरह पता चली। यही उसकी लेखनी के भीतर सियासी की वह प्रकंपित थरथराहट थी। यह सिर्फ़ धर्म का रहस्य नहीं था। यह छिपी हुई मानवता का रहस्य था। एक ऐसे देश में, जहां अस्मिताएं भूमिगत सुरंगों की तरह रहती थीं। अदृश्य, लेकिन मौजूद। इस रहस्य ने उसकी भाषा में एक स्थायी प्रकंपन छोड़ दिया। जैसे हर वाक्य उस छिपे हुए नाम की प्रतिध्वनि हो।

कम्युनिस्ट शासन के वर्षों में उनका पासपोर्ट जब्त होना केवल राजनीतिक घटना भर नहीं थी। यह साहित्यिक प्रतीक था। एक लेखक, जो अपने देश से बाहर नहीं जा सकता था, अपने भीतर इतना गहरे उतरने लग गया था कि वहां तक शायद ही कोई देशवासी पहुंचा हो। लेकिन 1990 के बाद जब वह एशिये पहुंचे, क्योटो की बारिशों में, मंगोलिया के शांत क्षितिज

उनके उपन्यास जीवन का प्रतिबिम्ब बनने की कोशिश करने के बजाय प्रलय की संरचना का अनुकरण करते हैं - चक्रीय, अंतहीन और चरमोत्कर्षविहीन, जहां उनका वाक्यविन्यास ही विनाश का मंच बन जाता है। उनके वाक्य सामान्य सांसों से भी आगे तक फैले हुए हैं। मानो मानवीय विराम चि ब्रह्मांडीय क्षय को थामने के लिए बहुत नाज़ुक हों। वे अनुच्छेदों के बजाय गतियों में लिखते हैं। उनका हर वाक्यांश अगले वाक्यांश में ऐसे समाता है, जैसे कोई व्यक्ति जो किसी स्वर्गिक आनंद में विश्वास नहीं करता; लेकिन फिर भी संगीत की रचना करता चलता है।

उनका सर्वनाश शून्यवाद नहीं, एक ख़ास तरह का रहस्योद्घाटन है. दरअसल, वे यह साबित करने के लिए लिखते हैं कि अर्थ का अंत भी सुंदर हो

सकता है, अगर उसे पर्याप्त दक्षता, सटीक यथार्थ और रूहानी सौंदर्यबोध के साथ प्रस्तुत किया जाए। बैरनवेंकहाइम की घर वापसी (2016) मानो मोहभंग में घर वापसी की गहन अनुभूति है। इसमें जैसे दोस्तोयेव्स्की का वह पगला उत्तर-आधुनिक बेतुकापन एक नए रूप वाले परिदृश्य में पुनर्जन्म लेता नज़र आता है। हम महसूस करते हैं कि इसका हर पात्र भावमुक्ति और उपहास के बीच कांपता है।

साहित्य ही नहीं, क्रॉस्नॉहोरकै ने सिनेमा के क्षेत्र में भी अपनी अमिट छाप छोडी है। उन्होंने मुख्य रूप से निर्देशक बेला टार के साथ काम किया, जिन्होंने उनकी कई रचनाओं को फ़िल्मों में रूपांतरित किया। उनके उपन्यास सतांतांगो पर इसी नाम से बनी ब्लैक-एंड-व्हाइट फिल्म (1994, निर्देशक: बेला टार) 7 घंटे लंबी है, जो एक गांव की अपोकैलिप्टिक कहानी दिखाती है। इसी प्रकार 'वर्कमेंस्टर हार्मोनिज़' (वर्कमेंस्टर हार्मोनियाक) (2000, निर्देशक: बेला टार) उनके उपन्यास अज़ एलेनलास मेलांकोलियाजा (1989) पर आधारित है। यह एक छोटे शहर में अराजकता और रहस्य की कहानी है।

क्रॉस्नॉहोरकै ने कई फिल्मों की पटकथाएं भी लिखी हैं। जैसे 'डैमनेशन' (कारहोजात) (1988, निर्देशक: बेला टार) मूल पटकथा; 'द लास्ट बोट' – सिटी लाइफ (अज़ उटोल्सो हाजो) (1990, निर्देशक: बेला टार) मूल पटकथा; 'द मैन फ्रॉम लंदन' (ए लोंडोनी फेर्फी) (2007, निर्देशक: बेला टार और आग्नेस हानित्ज़की) – जॉर्जेस सिमेनॉन के उपन्यास पर आधारित, लेकिन पटकथा क्रॉस्नॉहोरकै ने लिखी; 'द ट्यूरिन हॉर्स (ए टोरीनॉय लो) (2011, निर्देशक: बेला टार और आग्नेस हानित्ज़की) – मूल पटकथा, नीत्शे की एक घटना से प्रेरित। ये सभी फ़िल्में उनकी रचनाओं की जटिलता और लंबे शॉट्स के लिए प्रसिद्ध हैं।

क्रॉस्नॉहोरकै का जीवन और लेखन भी फ़िल्मों की तरह कई आश्चर्यजनक तथ्यों से भरा है, जो उनके रहस्यमय और गहन व्यक्तित्व को दर्शाते हैं। जब उन्होंने दॅ टूरिन हॉर्स फिल्म को अंतिम कहा तो शायद वह केवल फिल्म की नहीं, स्वयं की निरंतरता की समाप्ति की भी घोषणा कर रहे थे। उनका हर सहयोग; चाहे वह चित्रकार मैक्स न्यूमैन के साथ हो।❑

उपन्यास सतांतांगो पर इसी नाम से बनी फ़िल्म का दृश्य

उपन्यास पढ़ने में महिलाएं पुरुषों से आगे

एरिक वीनर

अमेरिकी लेखक और सार्वजनिक वक्ता बता रहे हैं कि फिक्शन पढ़ने में महिलाएं आगे और पुरुष फिसड्डी होते हैं। हालांकि वे अमरीका की बात कर रहे हैं किन्तु भारत में भी कमोबेश यही हाल नज़र आता है भले ही ऐसा कोई अकादमिक अध्ययन नहीं हुआ हो। सं.

कुछ साल पहले, ब्रिटिश लेखक इयान मैकइवान ने एक प्रयोग किया। वह और उनका बेटा लंदन के एक पार्क में दोपहर लंच के समय भीड़ में घुस गए और मुफ़्त किताबें बांटने लगे। कुछ ही मिनटों में, उन्होंने 30 उपन्यास बांट दिए। किताबें लेने वालों में लगभग सभी महिलाएं थीं, जो मुफ़्त किताबों के लिए उत्सुक और आभारी थीं, जबकि पुरुष संदेह या अरुचि से भौंहें चढ़ा रहे थे।

मैकइवान ने द गार्जियन अखबार में लिखा, जब महिलाएं पढ़ना बंद कर देंगी, तो उपन्यास मर जाएगा। मैकइवान का यह कथन निश्चित रूप से अतिशयोक्तिपूर्ण है, लेकिन थोड़ा सा ही। सर्वेक्षणों में लगातार पाया गया है कि महिलाएं पुरुषों की तुलना में ज़्यादा किताबें पढ़ती हैं, खासकर उपन्यास। इसके कई कारण हैं, पुरुष और महिला मस्तिष्क के बीच जैविक अंतर से लेकर, जिस तरह से लड़के और लड़कियों को कम उम्र में पढ़ने के लिए प्रेरित किया जाता है।

एक बात तो तय है: अमेरिकी, चाहे किसी भी लिंग के हों, आज पहले की तुलना में कम किताबें पढ़ रहे हैं। पिछले महीने एसोसिएटेड प्रेस और बाज़ार अनुसंधान फर्म इप्सोस द्वारा जारी एक सर्वेक्षण में पाया गया कि पिछले साल एक औसत अमेरिकी ने केवल चार किताबें पढ़ीं, और चार में से एक वयस्क ने कोई किताब नहीं पढ़ी। नेशनल एंडोमेंट फ़ॉर द आर्ट्स की एक रिपोर्ट में भी पाया गया कि 2002 में केवल 57 प्रतिशत अमेरिकियों ने ही कोई किताब पढ़ी थी, जो एक दशक में चार प्रतिशत अंकों की गिरावट है। हाल के वर्षों में किताबों की बिक्री स्थिर रही है और निकट भविष्य में भी ऐसी ही रहने की उम्मीद है।

एसोसिएटेड प्रेस द्वारा पाठकों में किए गए सर्वेक्षण के अनुसार एक औसत महिला एक वर्ष में नौ किताबें पढ़ती है, जबकि पुरुष केवल पांच किताबें पढ़ते हैं। इतिहास और जीवनी को छोड़कर सभी श्रेणियों में महिलाएं पुरुषों से ज़्यादा पढ़ती हैं। अमेरिका, कनाडा और ब्रिटेन में किए गए सर्वेक्षणों के अनुसार, उपन्यास बाज़ार में पुरुषों की हिस्सेदारी केवल 20 प्रतिशत है।

पत्रिका इन दीज़ टाइम्स में लक्ष्मी चौधरी कहती हैं: साहित्यिक प्रतिष्ठान के उन देवताओं के विपरीत, जो लेखक और आलोचक दोनों ही रूपों में मुख्यतः पुरुष ही होते हैं, उनके विनम्र पाठकों में भारी संख्या में महिलाएं हैं। पुस्तक समूहों में लगभग पूरी तरह से महिलाएं ही शामिल हैं, और नए साहित्यिक ब्लॉगों की बाढ़ भी मुख्यतः महिलाओं की ही है।

फिलिस नाम की एक उपयोगकर्ता ने साहित्यिक ब्लॉग ट्रैशिओनिस्टा पर लिखा कि, मैंने पिछले साल कम से कम 100 किताबें पढ़ी हैं। सच में। शायद 150 से 200 के आसपास। वे कहती हैं: मेरे पति? मुझे लगता है कि शून्य, जब तक कि आप बच्चों को पढ़ी गई चित्र पुस्तकों और कॉमिक पुस्तकों को न गिनें।

मियामी क्षेत्र में एक स्वतंत्र किताबों की दुकान, बुक्स एंड बुक्स के मालिक मिशेल कपलान कहते हैं के, मुझे पता है कि हमारे ग्राहकों में पुरुषों की तुलना में महिलाएं ज़्यादा हैं। लेकिन मुझे समझ नहीं आ रहा कि ऐसा क्यों है। कापलान का अनुमान है कि महिलाएं पुरुषों के लिए किताबें खरीद रही होंगी, लेकिन वह मानते हैं कि यह

उनकी महज़ एक कल्पना भी हो सकती है।

संज्ञानात्मक मनोवैज्ञानिकों ने पाया है कि महिलाएं पुरुषों की तुलना में ज़्यादा सहानुभूति रखती हैं, और उनकी भावनात्मक सीमा ज़्यादा होती हैऐसे गुण जो उन्हें फ़िक्शन के प्रति ज़्यादा आकर्षित करते हैं। कुछ विशेषज्ञ फ़िक्शन गैप की शुरुआत बचपन में ही देख लेते हैं। द फ़ीमेल ब्रेन की लेखिका लूआन ब्रिजेंडाइन कहती हैं कि छोटी उम्र में, लड़कियां लड़कों की तुलना में ज़्यादा देर तक स्थिर बैठ सकती हैं। लड़कियों को पढ़ने या लिखने में आसानी होती है, और इसे वयस्क जीवन में लागू करना कोई अतिशयोक्ति नहीं है। वह कहती हैं कि वास्तव में, वयस्क महिलाएं सामाजिक परिवेश में पुरुषों की तुलना में ज़्यादा बात करती हैं और ज़्यादा शब्दों का इस्तेमाल करती हैं।

एक और सिद्धांत मिरर न्यूरॉन्स पर केंद्रित है। भौंहों के पीछे स्थित, ये न्यूरॉन्स तब सक्रिय होते हैं जब हम कोई कार्य शुरू करते हैं और दूसरों में उन्हीं कार्यों को देखते हैं। मिरर न्यूरॉन्स बताते हैं कि दूसरों को दर्द में देखकर हम क्यों पसीज जाते हैं, या दूसरों को लज़ीज़ खाना खाते देखकर हमारे मुंह में पानी क्यों आ जाता है। न्यूरोसाइंटिस्ट मानते हैं कि मिरर न्यूरॉन्स सहानुभूति की जैविक कुंजी हैं।

यह शोध अभी शुरुआती दौर में है, लेकिन कुछ अध्ययनों में पाया गया है कि महिलाओं में पुरुषों की तुलना में ज़्यादा संवेदनशील मिरर न्यूरॉन्स होते हैं। शायद यही वजह है कि महिलाएं काल्पनिक रचनाओं की ओर आकर्षित होती हैं, जिनमें पाठक को पात्रों के साथ सहानुभूति रखने की ज़रूरत होती है।

ब्रिजेंडाइन कहती हैं, पढ़ने के लिए अविश्वसनीय धैर्य और पात्रों को 'महसूस' करने की क्षमता की ज़रूरत होती है। यह एक ऐसी चीज़ है जिसमें महिलाओं की रुचि पुरुषों से ज़्यादा होती है और वे इसमें बेहतर भी होती हैं। अमेरिकी प्रकाशक, स्कोलास्टिक के अनुसार, हैरी पॉटर सीरीज़ को लड़कियों से ज़्यादा लड़कों ने पढ़ा है। इसके अलावा, हैरी पॉटर ने लड़कों की पढ़ने की आदतों पर ज़्यादा प्रभाव डाला। 61 प्रतिशत लड़के इस बात से सहमत थे कि हैरी पॉटर पढ़ने से पहले वे मनोरंजन के लिए किताबें नहीं पढ़ते थे, जबकि 41 प्रतिशत लड़कियों ने ऐसा कहा।

प्रकाशकों और पुस्तक विक्रेताओं के लिए, यह आशा की एक किरण है – न केवल यह कि उपन्यासों का अंतर अब इतना बड़ा नहीं रह गया है, बल्कि यह भी कि उम्र का अंतर भी कम हो रहा है। आमतौर पर युवा, बड़ों की तुलना में कम पढ़ते हैं, और यह किताबों और उन्हें पसंद करने वालों के लिए अच्छा संकेत नहीं है। किताबों की दुकान की मालकिन कार्ला कोहेन की टिप्पणी है कि, हम सभी सोच रहे हैं कि इस नई पीढ़ी का क्या होगा जो ज़्यादा नहीं पढ़ती। जब वे बड़े होंगे तो क्या होगा?❑

विनम्रता के साथ लोगों में मेल कराता था ज़ुबीन का संगीत

❑

डॉ. संजय सिंह

कुछ दिन पहले गुवाहाटी में गायक, संगीतकार ज़ुबीन गर्ग की अंतिम यात्रा में उमड़े लाखों लोगों ने साबित कर दिया कि कलाएं यदि ईमानदार, जनपक्षीय और सहज हों तो चमत्कार हो सकता है। यह चमत्कार भूपेन हजारिका, सत्यजीत राय, सौमित्र चटर्जी जैसों की अंतिम विदाई में भी दिखा था। ज़ुबीन गर्ग की हैसियत बताता है यह आलेख। सं.

❑

ज़ुबीन का जीवन एक आंदोलन रहा। एक ऐसा आंदोलन जिसमें सुर, ताल, छंद, मिट्टी की गंध, नदी की धार और ख्वाबों का बिखरना संवरना शामिल था। इसीलिए उसकी आवाज़ सिर्फ गीत नहीं, आंदोलन बन गई। उसका हर गीत केवल संगीत ही न यहीं था, बल्कि सामाजिक जागरूकता और न्याय के लिए खड़ी आवाज़ थी। यह आवाज़ लोगों को जोड़ती और उन्हें बेचैनी और शांति, दर्द और खुशी एकसाथ महसूस कराती थी। लोगों को जगाने का साहस उनकी धुनों में हमेशा मौजूद रहा।

'ब्रह्मपुत्र की आवाज़' कहे जाने वाले ज़ुबीन गर्ग ने असम और पूर्वोत्तर भारत के लोगों को उनकी सांस्कृतिक पहचान से जोड़ा और नये कलाकारों को लोक संस्कृति, भाषा और परंपराओं को आगे बढ़ाने के लिए प्रेरित किया।

मेघालय के तुरा में मोहिनी मोहन बढ़वाठाकुर के घर 18 नवंबर 1992 को जन्मे ज़ुबीन के पिता मजिस्ट्रेट होने के साथ-साथ लेखक भी थे और माता गायिका। पिता का तबादला बार बार होता था इसलिए उनका परिवार अलग-अलग जगहों पर रहा और ज़ुबीन को अलग-अलग स्कूलों में पढ़ाई करनी पड़ी। वे 'गोल्डी

दा कहलाते थे। इसी दौरान जुबीन ने अनेक भाषाएं सीखी और बाद में भाषाओं और बोलियों की लड़ाई खत्म करने के सपने देखने लगे। वे किसी एक भहस के वर्चस्व या दमन को स्वीकार नहीं करते थे। जुबीन ने अपने नाम के पीछे बढ़वाठाकुर हटाकर गर्ग रख लिया जो उनका गोत्र था।

उनकी भाषाओं के मेल मिलाप की सोच उनके गीतों में भी झलकी। उन्होंने 40 से अधिक भाषाओं में गाया। असमिया, बंगाली, विष्णुप्रिया मणिपुरी, बोडो, डिमासा, टिया जैसी जैसी जनजातीय भाषाओं के अलावा उन्होंने हिन्दी, अंग्रेजी और मलयालम में भी गाया। छोटे-छोटे समुदायों की भाषाओं में गाये उनके गीत बेहद लोकप्रिय हुए। जुबीन का मानना था कि किसी भाषा को बोली कहकर उसका अपमान न करें क्योंकि उसमें हजारों सालों की सीख, संस्कृति और विरासत सन्निहित है।

उन्होंने असम में हिन्दी-असमिया भाषा विवाद को समाप्त करने का प्रयास किया। 'बिहू' पर्व पर उन्होंने हिन्दी गीत गाया, ताकि लोग समझें कि भाषा विवाद वास्तविक समस्या नहीं है, राजनीति असली समस्या है। बंगाल में भी वे उतने ही लोकप्रिय हुए और स्नेह पाया। असम में वे जुबीन दा थे तो मंगाल में गोल्ड़ी दा।

जुबीन 33 वर्षों तक असम की जनता, विशेषकर युवाओं के दर्द, निराश, गुस्से और विद्रोह को अपनी गायकी से आवाज़ देते हुए शोषण और वंचना के प्रतिरोध का हथियार बने। वे केवल गीत गाने तक सीमित नहीं रहे बल्कि एनआरसी के विरोध आंदोलन के दौरान अस्थाई कैंपों में रह रहे लोगों की मदद के लिए सड़कों पर उतार आये। वे लोगों के बीच जाते, उन्हें प्रेरित करते और आंदोलनों को शांतिपूर्वक चलाने की अपील करते। जब युवा अशांत होते, तो वे अपने गीतों से उन्हें शांति का संदेश देते।

असम की बाढ़ और कोरोना जैसी आपदाओं में उन्होंने राहत कार्यों में योगदान दिया। अपने घर को ही उन्होंने कोरोना राहत में सबके लिए खोल दिया। इस तरह जुबीन केवल गायक नहीं रहे बल्कि सुरों से संघर्ष तक एक आंदोलन बन गए।

वर्ष 1991 में बी बरुआ कॉलेज में ग्रेजुएशन की परीक्षा के दौरान जुबीन ने अपनी उत्तर पुस्तिका बिल्कुल खाली छोड़ डी। कॉलेज के प्रिंसिपल ने उन्हें अपने कमरे में बुलाकर इसका कारण पूछा तो उनका सीधा जवाब था मैं गाता हूं। यह सब मेरे लिए नहीं है। प्रिंसिपल ने कहा गाना गाने से क्या पेट भरेगा! लेकिन अगले ही साल उनका एल्बम 'अनामिका' जबरदस्त लोकप्रिय हुआ और जुबीन एक सितारे की तरह उभर आये। यही नहीं, कॉलेज की स्वर्ण जयंती पर वही जुबीन मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित थे।

जुबीन ने कहा था मेरी कोई जात नहीं है, मेरा कोई धर्म नहीं, मेरा कोई भगवान नहीं। मैं मुक्त हूं। मैं ही कांचनजंघा हूं। स्वयं को सभी बंधन और पहचान से आजाद करना और मानवता की पहचान के साथ जोड़ना ठीक टैगोर की भाषा में कहें तो चित्त येथा भय शून्य, उच्च येथा सिर'। कांचनजंघा की तरह हमेशा खड़े रहने की ज़िद हिम्मत और विनम्रता के साथ। उनकी अंतिम यात्रा के दौरान माहौल ठीक उसी तरह था, जैसे 9 नवंबर, 2011 को भूपेन हजारिक के अंतिम दर्शन के समय था। असम के लोगों को भरोसा था – भूपेन दा तो नहीं रहे, परंतु जुबीन दा तो हैं। यह भरोसा लोगों के साथ उनके मजबूत रिश्तों की गहराई को महसूस कराता है। जुबीन के अंतिम समय के साक्षी यंत्रशिल्पी साथी शेखर गोस्वामी को उन्होंने ही तैरना सिखाया था और कहा था तैरे से डरना नहीं, समुद्र किसी को नहीं डुबोता।

प्रकृति की विशालता पर इतना भरोसा और साथियों का हौसला बढ़ाते देखना जुबीन की हर परफ़ोर्मेंस में झलकता था। वे बहुत ही सहज थे। असमी सरलता उनके व्यवहार में हमेशा अभिव्यक्त होती रही। यही सरलता एक मिठास बन कर उनके गानों में समय कर लोगों के दिलों को छू जाती।

जुबीन भूपेन दा और बंगाल – असम के अनेक मनीषियों से प्रभावित थे। आंदोलन में वे गांधी से सीख लेते थे और अहिंसा के रास्ते पर चलने का प्रयास करते थे।

मोहीनी मोहन बढ़ठाकुर शायद दुनिया के अकेले पिता होंगे जिन्होंने अपने बेटे की जीवनी लिखने की घोषणा की है। जुबीन की पत्नी गरिमा ने अंतिम विदाई में उन्हें पान और सुपारी से विदा किया। वह पल भावुक करने वाला था। जुबीन दा विहीन हुए जो कहते थे शो मस्ट गो ऑन। कोई और आएंगे फिर से साहस जगाने और प्यार बरसाने के लिए। सलाम गोल्ड़ी दा।

(सप्रेस से साभार)❑

नोबेल पुरस्कार 2025

मेरी ई. ब्रंकोव्ह

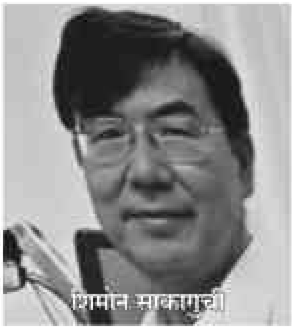
शिमोन साकागुची

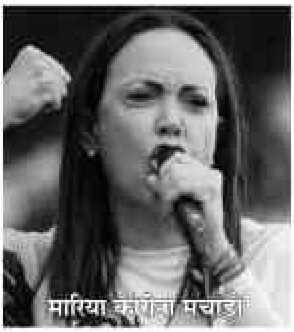
मारिया कोरीना मचाडो

नोबेल पुरस्कार के संस्थापक अल्फ्रेड नोबेल की पुण्यतिथि 10 दिसंबर को यह पुरस्कार दिए जाते हैं। नोबेल एक धनी स्वीडिश उद्योगपति और डायनामाइट के आविष्कारक थे। उनका निधन 1896 में हुआ। उनकी वसीयत के मुताबिक शांति, साहित्य, चिकित्सा, रसायन और भौतिकी विज्ञान में दिए जाते हैं। प्रत्येक नोबेल पुरस्कार अधिकतम तीन विजेताओं के बीच साझे में दिया जा सकता है। पहला नोबेल पुरस्कार 1901 में प्रदान किया गया था, और बाद में 1969 में आर्थिक विज्ञान में स्वीडिश रिक्सबैंक पुरस्कार की शुरुआत की गई। यह पुरस्कार भी अन्य नोबेल पुरुस्कारों के साथ दिया जाता है।

शांति

इस वर्ष के लिए शांति के नोबेल पुरस्कार के लिए नोबेल समिति ने वेनेजुएला की विपक्षी नेता मारिया कोरीना मचाडो के नाम की घोषणा की है। मचाडो को यह पुरस्कार वेनेजुएला के लोगों के लोकतांत्रिक अधिकारों के लिए किए अथक प्रयासों और शांतिपूर्ण तरीके से, तानाशाही से लोकतंत्र की ओर बदलाव के लिए किए संघर्ष के मद्देनजर दिया जा रहा है। समिति के प्रमुख योर्गेन वाट्ने फ्रीडनेस कहा कि वेनेजुएला की लोकतांत्रिक आवाजों की प्रतिनिधि के रूप में मचाडो, हाल के वर्षों में लैटिन अमेरिका में नागरिक साहस का एक असाधारण उदाहरण हैं।

चिकित्सा

चिकित्सा के क्षेत्र में वर्ष नोबेल पुरस्कार मेरी ई. ब्रंकोव्ह (अमेरिका), फ्रेड रॅम्सडेल (अमेरिका) और शिमोन साकागुची (जापान) को 'पेरिफेरल इम्यून टोलरेंस' से संबंधित खोजों के

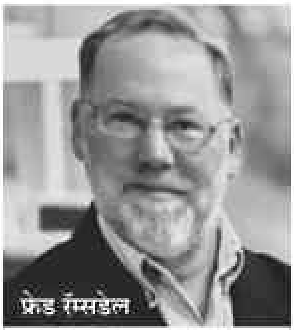
फ्रेड रॅम्सडेल

लिए दिया गया है। उनकी खोजों से इस बात की समझ बदल गई है कि शरीर प्रतिरक्षा प्रणाली के अपने स्वयं के ऊतकों पर हमला करने से कैसे रोकता है।

भौतिकी

फिजिक्स का नोबेल पुरस्कार तीन वैज्ञानिकों जॉन क्लार्क (यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया, बर्कले), मिशेल एच. डेवोरेट (येल यूनिवर्सिटी और यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया, सांता बारबरा) और जॉन एम. मार्टिनिस (यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया, सांता बारबरा) को दिया गया है। इन्हें यह पुरस्कार 'इलेक्ट्रिक सर्किट में मैक्रोस्कोपिक क्वांटम मैकेनिकल टनलिंग और ऊर्जा क्वांटीकरण की खोज' के लिए प्रदान किया गया।

इन वैज्ञानिकों के प्रयोगों ने यह साबित किया कि क्वांटम फिजिक्स की घटनाएं न केवल परमाणु या उप-परमाणु स्तर तक सीमित हैं, बल्कि हाथ में पकड़ सकने योग्य एक चिप-

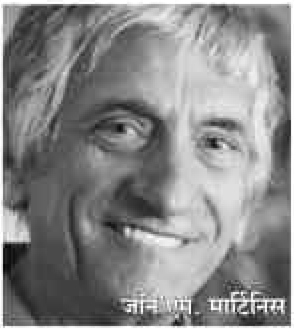
जॉन एम. मार्टिनिस

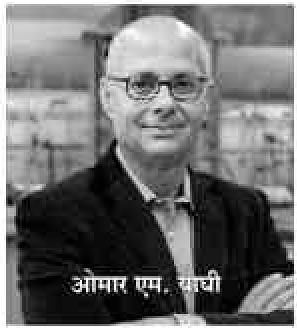
ओमार एम. याघी

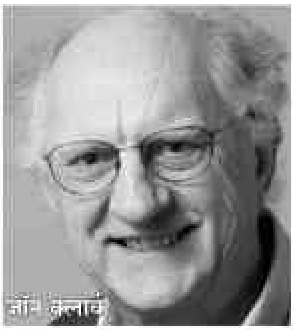
जॉन क्लार्क

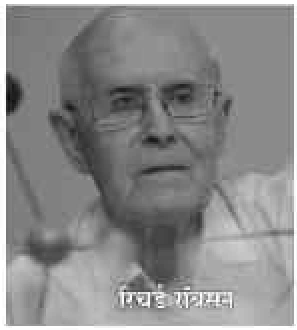
रिचर्ड रॉब्सन

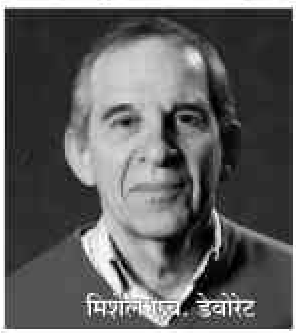
मिशेल एच. डेवोरेट

सुसुमु किटागावा

आधारित इलेक्ट्रिक सर्किट में भी दिखाई जा सकती हैं। यह खोज इस सवाल का उत्तर है कि क्वांटम प्रभावों को प्रदर्शित करने वाला सिस्टम कितने बड़े पैमाने तक जा सकता है.

रसायन

रसायन विज्ञान के क्षेत्र में नोबेल पुरस्कार सुसुमु किटागावा (जापान), रिचर्ड रॉबसन (यूके/ऑस्ट्रेलिया), और ओमार एम. याघी (जॉर्डन/यूएसए) को दिया गया है। उन्हें यह सम्मान मेटल-ऑर्गेनिक फ्रेमवर्क्स के विकास में उनके अग्रणी कार्य के लिए दिया गया, जिसकी शुरुआत 1989 में हुई थी।

इन वैज्ञानिकों का कार्य रसायन विज्ञान की सीमाओं को आगे बढ़ाने और समाज के लिए व्यावहारिक समाधान खोजने में महत्वपूर्ण रहा है।

अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्र में नोबेल पुरुस्कार तीन अर्थशास्त्रियों को इनोवेशन-ड्रिवन आर्थिक विकास की व्याख्या के लिए दिया गया है। इन वैज्ञानिकों के शोध ने यह स्पष्ट किया कि दीर्घकालिक आर्थिक वृद्धि केवल पूंजी या निवेश पर निर्भर नहीं करती, बल्कि तकनीकी प्रगति, नवाचार और प्रतिस्पर्धा ही विकास के वास्तविक इंजन हैं।

जोएल मोकिर ने ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह दिखाया कि औद्योगिक क्रांति के बाद तकनीकी प्रगति कैसे समाज का न्यू नॉर्मल बन गई, जबकि फिलिप एघियन और पीटर हाउइट ने अपने प्रसिद्ध क्रिएटिव डिस्ट्रक्शन मॉडल के माध्यम से यह बताया कि नई तकनीकें पुराने ढाँचों को चुनौती देकर सतत विकास को प्रोत्साहित करती हैं।

मोकिर संयुक्त राज्य अमेरिका के इवान्स्टन स्थित नॉर्थवेस्टर्न विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर हैं, जबकि अघियन पेरिस स्थित कॉलेज डी फ्रांस, तथा ब्रिटेन स्थित लंदन स्कूल ऑफ़

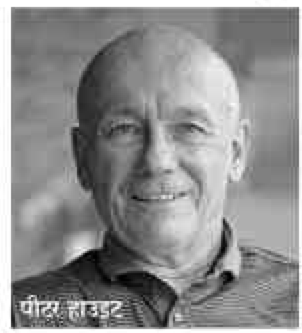
पीटर हाउइट

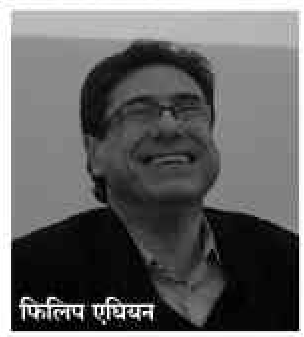
फिलिप एघियन

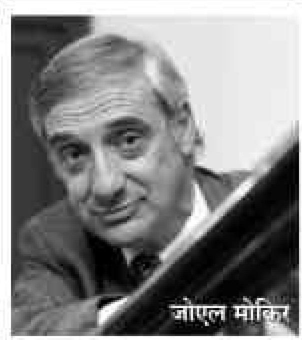
जोएल मोकिर

इकोनॉमिक्स एंड पॉलिटिकल साइंस में प्रोफ़ेसर हैं। हॉविट संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रोविडेंस स्थित ब्राउन विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर हैं। ❑

स्व-भाषा को छोड़ना अपनी जड़ों से कटना

डॉ. कन्हैयालाल खाँड़पकर

लेखक का कहना है कि भाषा ही किसी समाज की परंपरा की वाहक होती है और राष्ट्र को पहचान देती है। इसलिए भारतीय भाषाओं का सरित् प्रवाह बना रहना चाहिए। सं.

मनुष्य ने अपनी कर्मशीलता से जो उपलब्धियां प्राप्त की है, उनमें भाषा प्रमुख स्थान रखती है। हमारी सामाजिक प्रवत्तियां भाषा के माध्यम से ही प्रकट होती है। किसी राष्ट्र को पहचान उसकी भाषा से ही मिलती है। वह उसकी अस्मिता का आधार होती है। उसी के माध्यम से हम अपनी परंपरा के वारिस बनते हैं। इस संदर्भ में व्याप्ति की दृष्टि से भारत में सर्वाधिक विस्तीर्ण हिन्दी भाषा का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है।

स्वाधीनता संग्राम के दौरान महात्मा गांधी ने राष्ट्रीय एकता व गौरव भाव को पुनर्जीवित करने में हिन्दी की सामर्थ्य को पहिचान कर उसे राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का भरपूर प्रयास किया। उन्होंने जन साधारण तक अपना संदेश देश के सभी भागों में हिन्दी के माध्यम से ही पहुंचाया। हिन्दी देश के कोने-कोने में आज़ादी के जज़्बे की संवाहिका बनी। महात्मा गांधी से लेकर आज तक जिस किसी नेता ने अखिल भारतीय पहुंच बनाई है, उसने हिन्दी को अपनाया है। देश की संपर्क भाषा के रूप में अपने लचीले स्वभाव के कारण इसे सहज स्वीकार किया गया है। वह भारत में संवाद, संचार और व्यापार की सबसे बड़ी भाषा बन चुकी है।

भारतीयता की महक से सरोबार हिन्दी को शिक्षा के माध्यम के रूप में बढ़ावा देना राष्ट्र के लिए हर दृष्टि से कल्याणकारी है। इसलिए भारत सरकार की यह सुविचारित नीति है कि ज्ञान-विज्ञान के हर क्षेत्र में हिन्दी में अधिकाधिक स्तरीय पुस्तकों के लेखन को प्रोत्साहन दिया जाय ताकि नई पीढ़ी अपनी भाषा में हर विषय का अधुनातन व प्रामाणिक ज्ञान सहज रूप से प्राप्त कर सके। जिन देशों ने स्वभाषा का महत्व समझ कर उसे शिक्षा का माध्यम बनाया, भारत की भांति किसी विदेशी भाषा के मोह में नहीं फंसे उनकी प्रगति विस्मयकारी है। वे चीन, जापान,

इस्राइल दक्षिण कोरिया जैसे एशियाई देश हों या रूस, जर्मनी और फ्रांस जैसे यूरोपीय देश।

स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत जब हमें राष्ट्र निर्माण का अवसर मिला, हिन्दी को इस अभियान की हरावल में रखना आवश्यक था। स्वयं महात्मा गांधी ने राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की अर्हता को बलपूर्वक सामने रखा किन्तु अंग्रेजी के रौब-दाब में आज़ादी के बाद भी कमी नहीं आयी। हमें अपनी माटी की गंध से ही दूर कर दिया गया।

उच्च शिक्षा के सभी क्षेत्रों में अंग्रेजी का वर्चस्व होने के फलस्वरूप शिक्षित वर्ग अनजाने में ही अपनी जड़ों से कटता चला गया। उसके मन में यह भाव बद्धमूल हो गया कि प्रगति अपनी विरासत की ओर पीठ करने से ही संभव है। अपनी भाषा की अवहेलना ने ऐसा शिक्षित तबका तैयार कर दिया, जिसे न तो अपनी राष्ट्रीय अस्मिता का ज्ञान था और न इस गर्हित आचरण से होने वाली अपूर्णीय क्षति का अंदाज।

भाषा का सम्बन्ध मानवीय संवेगों और मन से बहुत गहरा होता है। अपनी भाषा में कही गई बात व्यक्ति के मनोजगत को कैसड़े शाद्वल करती है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण संत ज्ञानेश्वर, समर्थ गुरु रामदास, श्रीयुत शंकर देव, रसखान, रहीम, संत कबीर, संत तुलसीदास, भक्त सूरदास व मीरां बाई द्वारा रचित साहित्य के रूप में हमारे सामने है। जो लोग अपनी भाषा के प्रति अहोभाव नहीं रखते, उनका आत्मगौरव नष्ट होना अवश्यंभावी है।

अपनी भाषा में दी गई शिक्षा ही व्यक्ति को अपनी विरासत से जोड़ती है और उसका पहरुआ भी बनाती है। अपनी भाषा से विमुख होना मां के जीवनदायी दूध का तिरस्कार करना है। इससे अधिक अधमता क्या हो सकती है? रूसी साहित्यकार रसूल हमजातोव ने स्वभाषा व संस्कारों के प्रति असीम श्रद्धाभाव से ओत-प्रोत अपनी कृति 'मेरा दागिस्तान' में एक हृदयस्पर्शी घटना का ज़िक्र किया है। वे लिखते हैं कि अपने पेरिस प्रवास के दौरान वहां बसे कुछ दागिस्तानियों से मेरी भेंट हुई। उनमें मेरे गांव तसादा वह युवक भी शामिल था, जिसकी गिनती द्वितीय विश्वयुद्ध में गुमशुदाओं में थी। गांव आकार मैंने उसकी मां से उसके बेटे की कुशल क्षेम के समाचार दिये तो वे बहुत प्रसन्न हुई और तुरंत एक प्रश्न पूछा, उसने तुम से कौन सी भाषा में बात की? मैंने कहा, वह फ्रैंच में बोलता रहा और मैं अपनी आवार में। इसलिए दुभाषिये की जरूरत पड़ी। यह सुनकर वे भीतर गईं और शोक सूचक काले कपड़े पहिन कर बाहर आई और बोली, जो भाषा मैंने उसे अपने दूध के साथ सिखायी है, उसे वह भूल गया है तो मेरे लिये मार चुका।

स्वभाषा के प्रति अनन्य निष्ठा को उद्घाटित करने वाला एक अन्य श्री सम्पन्न उदाहरण उन्होंने इसी पुस्तक में दिया है। वे लिखते हैं, मैं मॉस्को विश्वविद्यालय में पढ़ रहा था। मेरे गांव का एक अन्य युवक वहां मेरा सहपाठी था। उसका एक रूसी कन्या से प्रेम सम्बन्ध हो गया। परिणय सूत्र में बांधने के लिए सहपाठी के माता-पिता की अनुमति आवश्यक थी। उसने मुझ से सहायता मांगी। काम कुछ दुष्कर था। क्योंकि हम पहाड़ी लोगों में गैर पहाड़ी लड़की से विवाह करना अच्छा नहीं समझा जाता था। मैंने गांव जाकर उसके माता-पिता से बात की। उसके पिताजी बोले, रसूल! बाकी सब तो ठीक है पर उस लड़की को तो अपनी 'अवार' भाषा नहीं आती होगी। यही दुविधा है। मॉस्को आकर मैंने उस प्रेमी युगल को सारी बात बतायी और उस कन्या को 'अवार' भाषा सिखायी। उसने फिर 'अवार' में उस युवक के पिताश्री को चिट्ठी लिखी। 'अवार' में लिखी चिट्ठी पढ़ कर वे बहुत प्रसन्न हुए और कहा, यह लड़की तो संस्कारी होगी। उसे तो अपनी 'अवार' भाषा आती है और विवाह करने की अनुमति दे दी।

हमारे दुर्भाग्य से उच्च शिक्षा प्राप्त भारतीय इस भ्रांति के शिकार हैं कि हमारी दासता की पर्याय एक विदेशी भाषा ही उत्कर्ष का आधार है। स्वभाषा की अवहेलना से होने वाले भीषण मनोवैज्ञानिक नुकसान का उन्हें जरा भी एहसास नहीं है। स्पेनिश लुटेरों ने अपनी कारस्तानी से दक्षिणी अमेरिका की गौरवमयी 'मय' एवं 'इंका' सभ्यताओं का समूलोच्छेद कर दिया और ऐसा वीभत्स पातक उनकी भाषा पर घातक प्रहार करके किया।

बार्बर विदेशी आक्रान्ताओं द्वारा किए गए तमाम मर्मांतक प्रहारों के बावजूद अगर भारत काफी हद तक अपनी अस्मिता को बचा पाया है तो हमारी भारतीय भाषाओं के सरितप्रवाह का पान करके। भविष्य में अदम्य आत्मविश्वास से दमकता भारत का मुखमंडल हिन्दी सहित अन्य भारतीय भाषाओं में उच्च शिक्षा के अभियान से ही संभव होगा। अपनी भाषा की अवहेलना तो घर में रत्नों की खां होते हुए भी बाहर कंकड़ चुगते फिरते रहने जैसी नादानी ही कहना होगा। ❑

युवाओं की सत्ता प्रतिष्ठानों के प्रति नाखुशी

कुणाल पुरोहित

दुनिया भर में युवा भ्रष्ट सरकारों, बढ़ती असमानता और अवसरों की कमी के ख़िलाफ़ विरोध प्रदर्शन कर रहे हैं। लेकिन क्या ये जनांदोलन, जो अक्सर सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म पर शुरू होते हैं, स्थायी बदलाव ला सकते हैं? मुंबई स्थित स्वतंत्र पत्रकार तथा 'एच-पॉप: द सीक्रेटिव वर्ल्ड ऑफ़ हिंदुत्व पॉप स्टार्स' के लेखक यही सवाल उठा रहे हैं। सं.

पिछले दो वर्षों में, दुनिया भर में लाखों युवा जनता द्वारा चुनी गई सरकारों के खिलाफ खड़े हुए हैं और सत्ता प्रतिष्ठान की राजनीति और नीतियों के प्रति अपनी नाखुशी, गुस्सा और यहाँ तक कि तिरस्कार भी व्यक्त किया है। गाजा युद्ध में सरकारी समर्थन के विरोध में अमेरिका और ब्रिटेन के कैंपस में हुए शिविरों से लेकर इंडोनेशिया, केन्या और तुर्की में सत्ता प्रतिष्ठान विरोधी आंदोलनों तक – जिनका नेतृत्व सभी छात्र और युवा नागरिक कर रहे हैं – और क्रमशः 2022 और 2024 में श्रीलंका और बांग्लादेश में होने वाले विद्रोह तक, युवा गुस्से में हैं और बदलाव की मांग कर रहे हैं। नेपाल की तरह, जहां परिवर्तन सिर्फ दो दिनों में आ गया,। युवा अधीर हैं और कल का इंतजार करने को तैयार नहीं हैं।

युवा हमेशा से बदलाव के उत्प्रेरक रहे हैं। नेल्सन मंडेला के बारे में सोचिए, जिन्होंने एक छात्र नेता के रूप में शुरुआत की थी और एक विरोध प्रदर्शन में शामिल होने के कारण उन्हें विश्वविद्यालय से निष्कासित भी कर दिया गया था। या आंग सान सू की, बिल क्लिंटन, जैसिंडा अर्डर्न, इन सभी ने छात्र राजनेता के रूप में शुरुआत की थी।

युवा प्रदर्शनकारियों ने इतिहास के कुछ सबसे यादगार पलों को आकार देने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है – चाहे वह चीन के तियानमेन चौक (1989) में एक अज्ञात व्यक्ति द्वारा सेना के टैंक का सामना करने की घटना हो, या फिर अम्ब्रेला मूवमेंट (2014) के दौरान लोकतंत्र समर्थक प्रदर्शनों के प्रतीक के रूप में हांगकांग के नागरिकों द्वारा पीले छाते का इस्तेमाल हो।

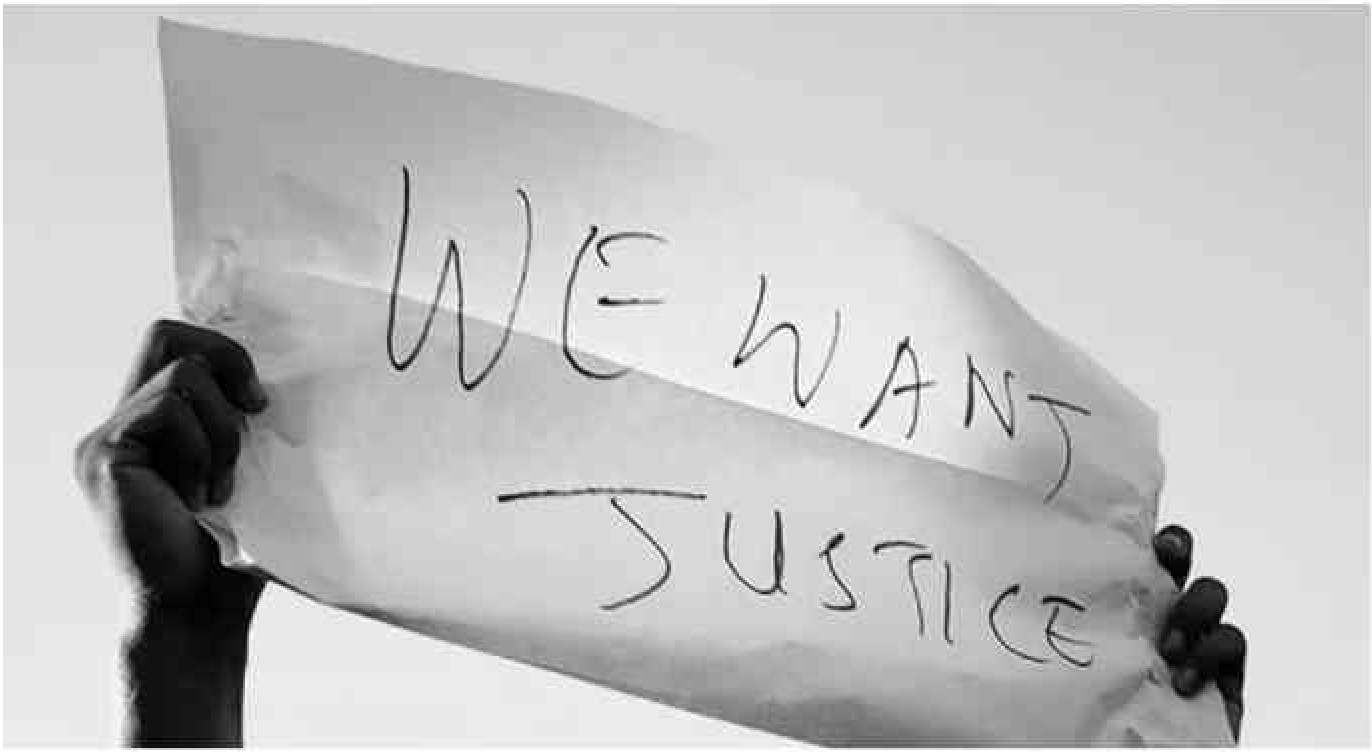

लेकिन, हाल ही में, कुछ बदलाव आया है। युवा तेज़ी से सड़कों पर उतर रहे हैं और लोकतंत्र के प्रति भी अधीर हो रहे हैं। पिछले साल यूनिसेफ की एक रिपोर्ट में खुलासा हुआ था कि 30 देशों में 18 से 35 वर्ष की आयु के केवल 57 प्रतिशत लोग ही लोकतंत्र से संतुष्ट थे, जबकि 56 वर्ष और उससे अधिक आयु वर्ग के 71 प्रतिशत लोग लोकतंत्र से संतुष्ट थे। इसी रिपोर्ट में कहा गया है कि पिछले दो दशकों में छात्रों और युवाओं के नेतृत्व में विरोध प्रदर्शनों की संख्या रिकॉर्ड स्तर पर पहुंच गई है, तथा इसमें भाग लेने के इच्छुक प्रदर्शनकारियों की संख्या भी दशकों के उच्चतम स्तर पर पहुंच गई है।

असंतोष ने युवाओं को सत्तारूढ़ अभिजात वर्ग से कड़े सवाल पूछने के लिए प्रेरित किया है। वैश्विक आँकड़े उनके दावों से सहमत हैं। विश्व बैंक के अनुसार, महामारी ने 1990 के बाद से वैश्विक समानता को सबसे बड़ा झटका दिया है। और महामारी के बाद भी, हालाँकि श्रम बाजार में तेजी आई और बेरोजगारी दर में गिरावट आई, पिछले साल अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की एक रिपोर्ट में कहा गया था कि दुनिया के आधे से ज़्यादा युवा कामगार अनौपचारिक नौकरियों में लगे हुए हैं, बिना किसी लाभ और नौकरी की सुरक्षा के।

इसका एक बड़ा हिस्सा भारत में भी दिखाई देता है, जहाँ थिंक-टैंक सेंटर फॉर मॉनिटरिंग ऑफ इंडियन इकोनॉमी के अनुसार, बेरोजगारी दर लगभग 7.2 प्रतिशत है। आईएलओ की 2024 की भारत रोजगार रिपोर्ट के अनुसार, माध्यमिक या उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बावजूद, बेरोजगार रह गए लोगों में 83 प्रतिशत भारतीय युवा हैं।

भारत में, ऐतिहासिक रूप से, छात्र उन बड़े विरोध प्रदर्शनों में अग्रणी रहे हैं जिनके परिणामस्वरूप राजनीतिक परिवर्तन हुए हैं। हाल के वर्षों में, युवा प्रदर्शनकारी लीक हुए परीक्षा पत्रों और परिसर में बदमाशी से लेकर कोलकाता में एक जूनियर डॉक्टर के बलात्कार और हत्या तक, हर चीज़ के खिलाफ आंदोलन कर रहे हैं। 2019 के अंत में, युवा प्रदर्शनकारियों ने विवादास्पद नागरिकता संशोधन अधिनियम (सीएए) के खिलाफ भी आंदोलन को गति दी, जिसने पूरे देश को अपनी चपेट में ले लिया और हज़ारों लोगों को सड़कों पर उतार दिया।

वैश्विक स्तर पर, इन युवा विद्रोहों ने भले ही सुर्खियाँ बटोरी हों और कुछ घटनाक्रमों को जन्म दिया हो, लेकिन क्या इनसे स्थायी बदलाव आ पाएगा? काठमांडू में विद्रोह के एक हफ़्ते बाद ही, उम्मीदें धीरे-धीरे कम होने लगी हैं। राजनीति के मामले में कई लोगों में संशयवाद, जो स्वभाव से ही स्वाभाविक है, धीरे-धीरे पनप रहा है। क्या हिमालय का सूरज एक नया सवेरा लाएगा? या फिर इस भू-आबद्ध देश पर वही चिरपरिचित बादल मंडराएँगे? ❑

स्कूली शिक्षा की लागत का पहली बार राष्ट्रीय सर्वे

डॉ. लता व्यास

हाल ही में शिक्षा की लागत का अनुमान लगाता एक महत्वपूर्ण अध्ययन आया है। लेखिका उसी का विश्लेषण प्रस्तुत कर रही है। सं.

राष्ट्रीय सांख्यिकी कार्यालय द्वारा प्रकाशित व्यापक 'मॉड्यूलर सर्वेक्षण शिक्षा 2025', एक बड़ी पहल है जो शिक्षण की लागत में कमी को दूर करने में बड़ी मदद कर सकती है। यह नया सर्वेक्षण, जिसमें 57,742 स्कूली छात्रों की जानकारी एकत्र की गई है, काफी विस्तृत है और इसमें नामांकन के स्तर, संस्थानों के स्वामित्व के आधार पर स्कूली शिक्षा की लागतों को सूचीबद्ध किया गया है। इसमें लिंग के आधार पर, ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों, राष्ट्रीय स्तर पर और 36 राज्यों और केंद्र शासित प्रदेशों में निजी कोचिंग या ट्यूशन के लिए भुगतान भी शामिल हैं।

हालांकि स्कूली शिक्षा में सार्वजनिक निवेश पर असंख्य अध्ययन मौजूद हैं, लेकिन राष्ट्रीय स्तर पर और राज्यों में स्कूली शिक्षा की लागत पर शायद ही कोई सामग्री उपलब्ध है, मुख्यतः द्वितीयक आंकड़ों की कमी के कारण।

राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण द्वारा किया गया अंतिम अनुमान जुलाई 2017-18 में 75वें दौर में आया था। यद्यपि भारत में शिक्षा पर घरेलू सामाजिक उपभोग के प्रमुख संकेतक शीर्षक वाली यह रिपोर्ट विस्तृत थी, लेकिन इसमें व्यापक मापदंडों पर ध्यान केंद्रित किया गया था, और छात्रों द्वारा वहन की गई वास्तविक लागतों का विवरण अपेक्षाकृत न्यूनतम था। दुर्भाग्य से, नए मॉड्यूलर सर्वेक्षण के अनुमान पहले के सर्वेक्षणों से सीधे तुलनीय नहीं हैं, मुख्यतः प्रयुक्त पद्धति और वर्गीकरण में हुए बदलावों के कारण।

नए अनुमानों के अनुसार, 2025 में राष्ट्रीय स्तर पर स्कूली शिक्षा की वार्षिक औसत लागत 12,616 रुपये होगी, और यह ग्रामीण क्षेत्रों में 8,382 रुपये और शहरी क्षेत्रों में 23,470 रुपये के बीच होगी। अर्थात्, शहरी क्षेत्रों में स्कूली शिक्षा की लागत ग्रामीण क्षेत्र की तुलना में लगभग तीन गुना अधिक है। हालांकि, इन लागतों के विभाजन में पर्याप्त भिन्नताएं हैं। उदाहरण के लिए, जहां ग्रामीण क्षेत्रों में स्कूली शिक्षा की लागत का लगभग आधा हिस्सा ही स्कूल फीस का होता है, वहीं शहरी क्षेत्रों में यह कुल लागत का लगभग दो-तिहाई होता है। यह भी

देखा गया है कि विभिन्न स्तरों पर शिक्षा की लागत में वृद्धि होती है। जहां पूर्व-प्राथमिक शिक्षा की वार्षिक औसत लागत 9,807 रुपये है, वहीं प्राथमिक शिक्षा के लिए यह थोड़ी अधिक, यानी 10,662 रुपये है। मध्य और माध्यमिक शिक्षा के लिए यह लागत लगभग 15,000 रुपये तक बढ़ जाती है और फिर उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के लिए यह बहुत ज़्यादा 20,133 रुपये तक हो जाती है।

स्कूली शिक्षा की लागत स्कूल के स्वामित्व के प्रकार पर भी निर्भर करती है। जहां सरकारी स्कूलों में औसत वार्षिक स्कूल लागत केवल 2,863 रुपये प्रति वर्ष थी, वहीं निजी स्कूलों में यह लगभग आठ गुना अर्थात 25,002 रुपये थी। इसी प्रकार, स्कूल फीस देने वाले बच्चों का हिस्सा राष्ट्रीय स्तर पर 57.1 प्रतिशत था और यह शिक्षा के स्तर के साथ बढ़ता गया। जहां प्रीप्राइमरी, प्राथमिक और मिडिल स्कूल स्तर पर केवल लगभग आधे बच्चे ही स्कूल फीस का भुगतान करते हैं, वहीं माध्यमिक शिक्षा के लिए यह हिस्सा बढ़कर तीन-चौथाई और उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में 45 प्रतिशत से ज़्यादा हो जाता है।

पाठ्यक्रम शुल्क में छूट का एक बड़ा हिस्सा सरकारी स्कूलों के कारण पाया गया। सर्वेक्षण के नतीजे बताते हैं कि सरकारी स्कूलों में केवल एक-चौथाई (26.7 प्रतिशत) छात्र ही पाठ्यक्रम शुल्क का भुगतान करते हैं। इसके विपरीत, निजी स्कूलों में 95.7 प्रतिशत छात्रों ने पाठ्यक्रम शुल्क का भुगतान किया, जो सहायता प्राप्त निजी स्कूलों में 89.1 प्रतिशत से लेकर गैर-सहायता प्राप्त स्कूलों में 98.1 प्रतिशत तक था। सरकारी स्कूलों में इस तरह की पाठ्यक्रम शुल्क छूट एक बड़ी राहत है, क्योंकि सरकारी स्कूल सबसे बड़ा वर्ग थे, जिनमें आधे से ज़्यादा स्कूली छात्र (55.9 प्रतिशत) थे। जहां सरकारी सहायता प्राप्त निजी स्कूलों में लगभग दसवां हिस्सा छात्र थे, वहीं गैर-सहायता प्राप्त निजी स्कूलों में लगभग एक-तिहाई (31.9 प्रतिशत) स्कूली छात्र थे।

स्कूली शिक्षा लागत का एक महत्वपूर्ण घटक निजी कोचिंग पर खर्च होता पाया गया। निजी कोचिंग के लिए भुगतान करने वाले स्कूली छात्रों की हिस्सेदारी लगभग एक-चौथाई (27 प्रतिशत) थी, जिसमें ग्रामीण (25.5 प्रतिशत) और शहरी क्षेत्रों (30.7 प्रतिशत) में केवल मामूली अंतर था। जहां लगभग दसवें हिस्से (11.6 प्रतिशत) छात्रों ने पूर्व-प्राथमिक स्तर पर निजी कोचिंग ली, वहीं उच्चतर स्तरों पर इसकी हिस्सेदारी लगातार बढ़ी, प्राथमिक स्तर पर 22.9 प्रतिशत से बढ़कर माध्यमिक स्तर पर 29.7 प्रतिशत (29.7%) हो गई। निजी कोचिंग लेने वाले छात्रों की सबसे बड़ी हिस्सेदारी माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक स्तर (लगभग 37-37 प्रतिशत) पर थी।

जहां पूर्व-प्राथमिक राज्य में ट्यूशन फीस केवल 525 रुपये थी, वहीं प्राथमिक और मध्य विद्यालयों में यह 1,000 रुपये से 2,000 रुपयों के बीच थी। हालाँकि, माध्यमिक स्तर पर यह दोगुनी (4,183 रुपये) हो गई और उच्चतर माध्यमिक स्तर पर 6,384 रुपये तक पहुंच गई।

सर्वेक्षण में एक और दिलचस्प पहलू उजागर हुआ कि 36 राज्यों और केंद्र शासित प्रदेशों में भारी अंतर है। प्रमुख राज्यों में, वार्षिक स्कूली शिक्षा की लागत बिहार में न्यूनतम 5,656 रुपये से लेकर हरियाणा में अधिकतम 25,720 रुपये तक भिन्न-भिन्न थी। पाठ्यक्रम शुल्क के आकार में बड़े अंतर का एक कारण पाठ्यक्रम शुल्क का भुगतान करने वाले छात्रों की हिस्सेदारी में असमानता है। यह ओडिशा में न्यूनतम 27.9 प्रतिशत से लेकर हिमाचल प्रदेश में 77.8 प्रतिशत तक थी।

इसी प्रकार, निजी कोचिंग लेने वाले छात्रों की हिस्सेदारी छत्तीसगढ़ में न्यूनतम 4.5 प्रतिशत से लेकर पश्चिम बंगाल में 74.6 प्रतिशत तक भिन्न-भिन्न थी, और निजी कोचिंग पर खर्च की गई औसत राशि छत्तीसगढ़ में 344 रुपये और पश्चिम बंगाल में 7,878 रुपये के बीच थी।

यह भी देखा गया कि हरियाणा, अरुणाचल प्रदेश, सिक्किम, हिमाचल प्रदेश, मिज़ोरम, मेघालय, नागालैंड और त्रिपुरा जैसे राज्यों और केंद्र शासित प्रदेशों में, जहां स्कूल फीस देने वाले छात्रों की हिस्सेदारी राष्ट्रीय औसत (70 प्रतिशत से अधिक) से कहीं अधिक थी, निजी कोचिंग लेने वाले छात्रों की हिस्सेदारी भी सबसे कम है (सभी 13 प्रतिशत से कम)। इसी प्रकार, झारखंड, बिहार और ओडिशा जैसे राज्य, जहाँ कोर्स फीस देने वाले छात्रों की हिस्सेदारी सबसे कम (42 प्रतिशत से कम) थी, निजी कोचिंग लेने वाले छात्रों की हिस्सेदारी (40 प्रतिशत से अधिक) वाले राज्य भी थे।❑

वेनिस असल में उल्टा जंगल है

अन्ना ब्रेस्सनीन

वेनिस के बारे में हम यह तो जानते हैं कि वह नहरों का महानगर है लेकिन लेखिका बता रही है कि उसकी इमारतों की नींवें लकड़ी के खंभों की बनी है। सं.

क्या आप जानते हैं कि 1604 साल पुराना वेनिस शहर लाखों छोटे लकड़ी के खंभों की नींवों पर बना है, जिन्हें ज़मीन में इस तरह गाड़ा गया है कि उनकी नुकीली नोक नीचे की ओर हो। लार्च, ओक, एल्डर, पाइन, स्प्रूस और एल्म जैसे पेड़ों की लकड़ियों से बने ये खंभे, जिनकी लंबाई 3.5 मीटर (क़रीब 11.5 फ़ीट) से लेकर एक मीटर (3 फ़ीट) से भी कम होती है, सदियों से पत्थर के महलों और ऊंचे घंटाघरों को संभाले हुए हैं। यह इंजीनियरिंग का ऐसा अद्भुत उदाहरण है जिसमें प्रकृति और भौतिकी (फ़िज़िक्स) की ताक़तों का बेहतरीन इस्तेमाल किया गया है।

आजकल की आधुनिक इमारतों में जहां मज़बूत नींव के लिए स्टील और कंक्रीट का इस्तेमाल किया जाता है, वहीं यह 'उल्टा जंगल' सदियों से वेनिस को थामे हुए है। आज की ज़्यादातर नींव वेनिस जितने लंबे समय तक नहीं टिक सकतीं।

स्विट्ज़रलैंड की ईटीएच यूनिवर्सिटी में जियोमैकेनिक्स और जियोसिस्टम इंजीनियरिंग के प्रोफ़ेसर अलेक्ज़ांडर प्यूज़्रिन कहते हैं, आजकल कंक्रीट या स्टील की नींव लगभग 50 साल तक टिकने की गारंटी के साथ बनाई जाती हैं. ज़रूर, वे इससे ज़्यादा भी चल सकती हैं, लेकिन जब हम घर या औद्योगिक ढांचे बनाते हैं, तो मानक यही होता है – 50 साल की उम्र.किसी को ठीक-ठीक नहीं पता कि शहर के नीचे कुल कितने खंभे हैं, लेकिन सिर्फ़ रियाल्टो ब्रिज के नीचे ही 14 हज़ार लकड़ी के खंभे गड़े हुए हैं और सन् 832 में बनी सेंट मार्क बेसिलिका के नीचे 10 हज़ार ओक के पेड़ इस्तेमाल हुए थे। वेनिस की इमारतों की नींव बनाने के लिए लकड़ी के खंभे जितना गहराई तक जा सकते थे, उतने नीचे तक गाड़े गए थे।

यह काम ढांचे के बाहरी हिस्से से शुरू होकर केंद्र की ओर बढ़ता था। आमतौर पर एक वर्ग मीटर में नौ खंभे गोलाकार (स्पाइरल) पैटर्न में गाड़े जाते थे। इसके बाद खंभों के सिरों को काटकर उन्हें एक समान सतह में बदल दिया जाता था, जो समुद्र के स्तर से नीचे होती थी। फिर इस पर लकड़ी की क्षैतिज (हॉरिज़ॉन्टल) संरचनाएं रखी

जाती थीं – इन्हें ज़त्तेरोनी (लकड़ी की पट्टियां) या मादीएरी (बीम) कहा जाता था। इसके ऊपर इमारतों के पत्थर रखे जाते थे। वेनिस गणराज्य ने जल्द ही अपने जंगलों की रक्षा शुरू कर दी ताकि निर्माण और जहाज़ बनाने के लिए पर्याप्त लकड़ी उपलब्ध रहे।

इटली के नेशनल काउंसिल फॉर रिसर्च के बायोइकोनॉमी इंस्टीट्यूट के रिसर्च डायरेक्टर निकोला मक्कियोनी बताते हैं, वेनिस ने पेड़ों की खेती यानी सिल्वीकल्चर की अवधारणा ही ईजाद की थी।

वेनिस अकेला शहर नहीं है जो अपनी इमारतों की नींवों के लिए लकड़ी के खंभों पर निर्भर है। एम्सटर्डम भी ऐसा ही एक शहर है जो आंशिक रूप से लकड़ी के खंभों पर बना है। वहां (और उत्तरी यूरोप के कई शहरों में) ये खंभे सीधे नीचे तक जाकर ठोस चट्टान (बेडरॉक) को छूते हैं और लंबे स्तंभों या टेबल के पैरों की तरह काम करते हैं। अमेरिका के इलिनॉय विश्वविद्यालय में आर्किटेक्चर के प्रोफ़ेसर थॉमस लेस्ली कहते हैं, यह तरीक़ा तब ठीक है जब चट्टान सतह के क़रीब हो। वह बताते हैं कि मिशिगन झील के किनारे, जहां वह रहते हैं, वहां चट्टान ज़मीन से क़रीब 100 फीट (30 मीटर) नीचे है। इतने लंबे पेड़ ढूंढना मुश्किल होता है। कहा जाता है कि 1880 के दशक में शिकागो में लोगों ने एक पेड़ के तने के ऊपर दूसरा तना रखकर नींव बनाने की कोशिश की थी, लेकिन इस तरीक़े ने काम नहीं किया। आख़िरकार उन्हें पता चला कि असली ताक़त मिट्टी और खंभों के बीच बनने वाले घर्षण (फ्रिक्शन) में है। इस सिद्धांत का

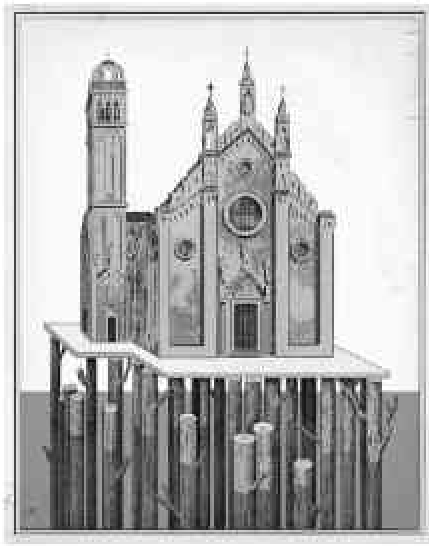

आधार है मिट्टी को मज़बूत बनाना– जितने ज़्यादा खंभे एक जगह गाड़े जाएंगे, उतना ही ज़्यादा घर्षण पैदा होगा और इमारत की नींव मज़बूत होगी। इस तकनीक को वैज्ञानिक रूप से 'हाइड्रोस्टैटिक प्रेशर' कहा जाता है। जब बहुत सारे खंभे पास-पास गाड़े जाते हैं, तो मिट्टी उन्हें कसकर पकड़ लेती है। वेनिस की लकड़ी की नींवें भी इसी सिद्धांत पर काम करती है – ये खंभे ठोस चट्टान तक नहीं पहुंचते, बल्कि मिट्टी के घर्षण की वजह से इमारतों को थामे रखते हैं।

यह तरीक़ा बहुत पुराना है। पहली सदी के रोमन इंजीनियर और वास्तुकार विट्रुवियस ने भी इस तकनीक का ज़िक्र किया था– रोमन लोग पुल बनाने के लिए पानी में डूबे लकड़ी के खंभों का इस्तेमाल करते थे। चीन में भी वॉटर गेट्स इसी तकनीक से बनाए जाते थे।

एज़्टेक लोगों ने मैक्सिको सिटी में यही तरीक़ा अपनाया था, जब तक कि स्पेनिश विजेताओं ने उनकी प्राचीन नगरी को तोड़कर उसी जगह कैथोलिक कैथेड्रल नहीं बना दिया। प्यूज़्रिन बताते हैं, एज़्टेक अपने पर्यावरण में निर्माण करना स्पेनिश लोगों से कहीं बेहतर जानते थे। स्पेनिश लोगों ने बाद में जो कैथेड्रल बनाया, वह अब असमान रूप से धंस रहा है। उनके मुताबिक़, मैक्सिको सिटी का यह कैथेड्रल और पूरी मैक्सिको सिटी नींव से जुड़ी हर ग़लती का जीवंत उदाहरण है।

लकड़ी, मिट्टी और पानी– ये सभी मिलकर वेनिस की नींव को असाधारण मज़बूती प्रदान करते हैं। डेढ़ हज़ार साल से ज़्यादा पानी में रहने के बाद भी वेनिस की नींव अब तक मज़बूती से टिकी हुई है। हालांकि यह पूरी तरह से नुक़सान रहित नहीं है।

मक्कियोनी कहते हैं, हमें नहीं पता कि ये नींव और कितनी सदियों तक चलेंगी, लेकिन जब तक पर्यावरण जैसा है वैसा बना रहेगा, वे टिकी रहेंगी. यह सिस्टम इसलिए काम करता है क्योंकि यह लकड़ी, मिट्टी और पानी– इन तीनों का कॉम्बिनेशन है। मिट्टी ऑक्सीजन को दूर रखती है, पानी लकड़ी की कोशिकाओं का आकार बनाए रखता है और लकड़ी इमारत को थामे रखने के लिए ज़रूरी घर्षण देती है। 19वीं और 20वीं सदी में नींव बनाने के लिए लकड़ी की जगह पूरी तरह सीमेंट ने ले ली। प्रोफ़ेसर प्यूज़्रिन कहते हैं कि इन लकड़ी की नींवों वाली इमारतों को उन लोगों ने बनाया था जिन्होंने न सॉइल मेकैनिक्स पढ़ी थी, न ही भू-तकनीकी (जिओ-टेक्निकल) इंजीनियरिंग। फिर भी उन्होंने ऐसा कुछ बना दिया जिसके बारे में हम आज सिर्फ़ सपना देख सकते हैं और जो इतने लंबे समय तक टिक सके। ❑

सात्विक जीवन में छिपा है अहिंसा और प्रेम का रहस्य

सुज्ञान मोदी

महात्मा गांधी की राह पर चलने वाला लेखक कह रहा है कि बापू की अहिंसा की बात को समझने और उसे आत्मसात् करने से ही हम आनंद के माधुर्य जा जीवन जी सकते हैं। सं.

हम बापू की जयंती अहिंसा दिवस के रूप में मनाते तो हैं लेकिन उसका सच्चा लाभ हमें अपने निजी जीवन में कैसे मिलेयह सौ टके का सवाल है। जब हमारे निजी जीवन में ही अहिंसा नहीं होगी तब उसका लाभ पूरे समाज को कैसे मिल सकता है। यह सोचने की बात है।

हमें कुछ ठोस अपने स्वयं के जीवन में करना पड़ेगा। क्योंकि अहिंसा कोई राजनीतिक शब्द नहीं है। इसका एक ठोस आध्यात्मिक आधार है। वह एक व्यावहारिक कसौटी है। इस अहिंसा की परीक्षा हमारे रोजमर्रा के जीवन में होती रहती है। हर क्षण होती रहती है। हमें अपने निजी जीवन को, विचार को, आहार को, भाषा और व्यवहार को अहिंसा की कसौटी पर रखना होगा, वरना सतह पर मनमोहक, लोकप्रिय या चमत्कारी दिखाई देने वाला अहिंसा का हमारा सारा उद्यम निरर्थक कवायद बन कर रह जाएगा।

गांधीजी के लिए हमारे जीवन का यह पाखंड बहुत पीड़ादायी होता था। अपनी यह भावना वह बहुत विनम्रता के साथ बार-बार व्यक्त करते रहे। लेकिन हमने बहुत चतुराई से उनकी बातों की व्यावहारिक और आध्यात्मिक भूमिका को गौण कर दिया, क्योंकि हम अपने निजी जीवन में आचरण, व्यवहार, आहार अथवा विचार को अहिंसा की कसौटी पर रखना ही नहीं चाहते।

सत्य तो यह है कि गांधीजी अपने निजी जीवन में यदि इतने महान पराक्रम कर पाए, तो उसके पीछे उनकी असली शक्ति उनके निजी जीवन की यह व्रत-साधना ही थी। हम इस सत्य को कभी न भूलें। इस रहस्य को जिसने समझा, उसी ने वास्तव में गांधीजी की सच्ची महिमा को समझा। क्योंकि उनकी यही महिमा सार्वकालिक और सार्वजनीन होने की क्षमता रखती है।

आज समाज में इतनी अशांति है। हमारे हृदय में एक-दूसरे के प्रति द्वेष और नफरता बढ़ती जा रही है। जाति, भाषा, क्षेत्र और पंथ-मजहब आदि के नाम पर विभाजन और दूरियां बढ़ती जा रही हैं। सामुदायिक पूर्वाग्रह गहराते जा रहे हैं। राष्ट्रों के बीच युद्धों में निरीह लोग मारे जा रहे हैं। निर्दोष बुजुर्ग, बच्चे, महिलाएं और जवान सब मारे जा रहे हैं। निरर्थक लोभ, अहंकार और घृणा से पैदा हुई हिंसा और युद्ध की वजह से मारे जा रहे हैं। दंगे-बलवे हो रहे हैं। ये सभी प्रश्न केवल राजनीतिक प्रश्न नहीं हैं। अलग-

अलग दलों का हिस्सा बनकर एक-दूसरे पर टीका-टिप्पणियां करते रहने से इनका कोई सार्वकालिक समाधान नहीं होने वाला है। इसीलिए गांधीजी मूल की बात करते थे। लेकिन हम उस मूल पर बात करने से बचते हैं। क्योंकि राजनीतिक दलबंदी आसान है। सतही टीका-टिप्पणी विरोध-समर्थन करके क्रांति का गुमान पाल लेना आसान है। व्यक्तियों और घटनाओं पर बात करना आसान है। चाहे किसी भी परिप्रेक्ष्य से कर लें, किसी भी दृष्टिकोण से कर लें। कितने भी खतरे उठाते हुए कर लें, या अलग-अलग प्रकार के लोभ-लाभ की दृष्टि से कर लें। वह सब अपेक्षाकृत आसान है। लेकिन निज जीवन-साधना पर कार्य करना बहुत मुश्किल है। सतत आत्मचिंतन और सतत आत्मपरीक्षण बहुत मुश्किल है। लेकिन गांधीजी तो यही मार्ग बताते थे।

गांधीजी ने अपने जीवन और विचार दोनों से सात्विक जीवन की शिक्षा दी है। दिन-रात की क्षुद्र राजनीतिक उठापटक रजोगुणी जीवन की निशानी है। हमारी बौद्धिक जड़ता और हिंसक आहार-विहार हमारे तमोगुणी जीवन की निशनी है। चाहे हम किसी भी पाले में खड़े हों। हर पक्ष को यही भ्रम होता है कि एकमात्र वही सच्चा है और नैतिक है। ऐसे में कौन किसे समझा सकता है। तमोगुणी और रजोगुणी जीवन का तो सारा व्यापार ही इसी दल, सत्ता, नेता, प्रतिस्पर्धा, परस्पर-अंधविरोध, या तर्क-वितर्क-कुतर्क के जरिए अंधसमर्थन आदि के इर्द-गिर्द घूमता रहता है। यह एक अंतहीन और दिशाहीन कवायद होती है। जीत गए तो नाचने लगे। हार गए तो हताश हो गए या अनर्गल प्रलाप करने लग गए। ऐसी हार और ऐसी जीत, दोनों ही निरर्थक हैं। यह गांधीजी का मार्ग नहीं है।

गांधीजी एक समग्र और सात्विक जीवन-दृष्टि हमारे सामने रखते हैं। और उसपर आधारित एक स्पष्ट सात्विक जीवन-चर्या का प्रस्ताव भी रखते हैं। अपने स्वयं के जीवन से वह उसे प्रमाणित करते हैं। उस सात्विक जीवन-चर्या को उसकी मूल आध्यात्मिक भूमिका में अपनाए बिना हमें उनका आधिकारिक प्रवक्ता बनने की भूल नहीं करनी चाहिए। यह सत्य का मार्ग नहीं। यह गांधीजी का मार्ग तो कदापि नहीं है। पाखंडरहित या विरोधाभास-रहित जीवन को अपनाए बिना हम गांधीजी के सत्य को नहीं समझ सकते। और इस सत्य को समझे बिना हम अहिंसा को भी नहीं समझ सकते। सत्य और अहिंसा को जीवन में अपनाना तो बहुत दूर की कौड़ी है, उसे सही मायनों में समझने की पात्रता तक हममें नहीं आ सकती। क्योंकि सर्वविधि पवित्र और सात्विक जीवन के बिना वह पात्रता हममें आ ही नहीं सकती।

जैसे पंचव्रतों को 'व्यवहार में अपनाए' बिना हम अनंत केवली भगवान महावीर स्वामी को नहीं समझ सकते। जैसे पंचशील और पारमिताओं को जीवन में, आहार-विहार में 'अपनाए' बिना हम भगवान बुद्ध को नहीं समझ सकते। जैसे अहिंसक शुद्धाहार और पवित्र रहनी को जीवन में उतारे बिना हम कबीर, नानकदेव जी, नरसी मेहता और श्रीमद् राजचंद्र प्रभृत्ति संतों को नहीं समझ सकते, ठीक उसी तरह हम एकादश अथवा द्वादश व्रतों को जीवन में पूरी निष्ठा से अपनाए बिना गांधीजी को समझने का दावा नहीं कर सकते।

बिना उसके हममें वैसी पात्रता नहीं आ पाएगी। हमारी बातों में वैसा असर नहीं आ पाएगा। हमारे जीवन में वैसा प्रकाश भी नहीं खिल पाएगा जिसका तेज या जिसकी सुगंध हमारे आस-पास अपने आप फैलने लगे। इसलिए आज गांधीजी का काम करने की ठानने वाले कार्यकर्ता अपने निजी जीवन में वैसा प्रकाश और वैसी सुगंध पैदा करने की कोशिश करें। ऐसा करने से हमारी वाणी में स्वतः ही विनम्रता आने लगेगी; आहार-विहार में सात्विकता आने लगेगी; आचरण में सजगता आने लगती है। चिंतन में चैतन्यता आने लगती है। सभी जीवों के प्रति जीवदया पैदा होने लगेगी; जगत के समस्त दुःखी जनों के प्रति करुणा उत्पन्न होने लगेगी; हृदय में सबके प्रति एकसमान प्रेम उमड़ने लगेगा। इस प्रेम का अर्थ अन्याय का स्वीकार्य नहीं है, बल्कि अन्यायी के सत्याग्रही प्रतिकार और हृदयस्पर्शी प्रबोधन की नैतिक पात्रता हासिल करना है। इसी का नाम अहिंसा है।

अहिंसा का श्रेष्ठतम अर्थ तो बिना शर्त प्रेम ही है। हर एक में अपने-आप को देखना और स्वयं में हर एक को देखना। ऐसी जो समानुभूति है, यही अहिंसा है। सबमें एक चैतन्य सत्ता का प्रकाश देखना, एक ही पवित्र नूर देखना, ही अद्वैत है, अहिंसा है। दूसरों के दुःख में दुःखी होना और यथासंभव स्वधर्माचरण करते हुए उन्हें उस दुःख से निकालने का चींटीवत् प्रयत्न करते रहना, सच्ची अहिंसा है। ❑

पीयूष पांडे: विज्ञापन जगत जिनका हमेशा ऋणी रहेगा

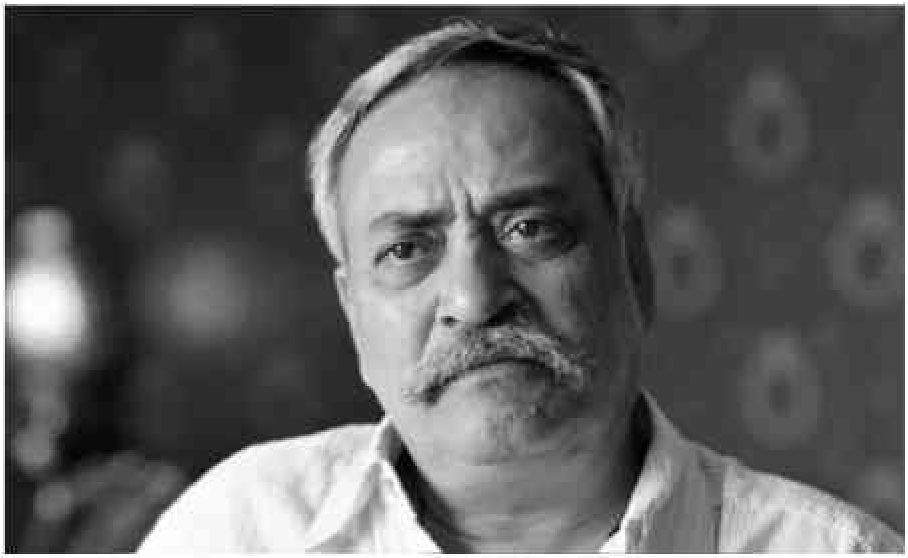

विज्ञापन जगत के शहंशाह माने जाने वाले पद्मश्री से अलंकृत पीयूष पांडे अब हमारे बीच नहीं हैं। उनका 24 अक्टूबर को 70 वर्ष की आयु में निधन हो गया। उन्होंने भारतीय विज्ञापन जगत में अपनी एक अमिट छाप छोड़ी। जयपुर में जन्मे और जयपुर व जोधपुर में पले बड़े हुए पांडे अपनी रचनात्मकता, हास्य और आम लोगों से जुड़ी कहानियों के माध्यम से विज्ञापनों का पश्चिमी पैरहन बदल कर भारतीय कर दिया। उन्होंने एक ऐसे समय में विज्ञापन की दुनिया को नया आयाम दिया, जब यह मुख्यतः पश्चिमी प्रभावों से प्रभावित थी।

उन्होंने हिंदी और स्थानीय मुहावरों को विज्ञापनों में शामिल कर, उन्हें भारत की मिट्टी से जोड़ा। उन्होंने भारतीय जनमानस की नब्ज को समझा और उसे अपनी रचनात्मकता से हमेशा के लिए जोड़ दिया। उन्होंने मात्र उत्पाद बेचने के माध्यम विज्ञापनों को उन्होंने लोगों के जीवन से जुड़ी भावनात्मक कहानियों का हिस्सा बना दिया।

उनकी रचनात्मकता के कुछ सबसे यादगार उदाहरणों में से हैं 'फेविकोल का जोड़', जिसमें रोजमर्रा के हालात को हास्यपूर्ण ढंग से दिखाया गया। कैडबरी के लिए 'कुछ खास है जिंदगी में' ने ब्रांड को सिर्फ चॉकलेट से कहीं ज्यादा, एक खूबसूरत एहसास से जोड़ दिया। एशियन पेंट्स के लिए 'हर खुशी में रंग लाए' और हच (अब वोडाफोन) के लिए 'जब वी मेट' अभियान ने भी लोगों के दिलों को छुआ। पोलियो अभियान के लिए उनका 'दो बूँद जिंदगी की' एक सामाजिक संदेश था, जिसने लाखों लोगों को जागरूक किया। दूरदर्शन के विडिओ के लिए उनका लिखा मिले सुर मेरा तुम्हारा देश की एकता का राष्ट्रगान बन गया।

पीयूष पांडे ने केवल टैगलाइन नहीं गढ़ीं, बल्कि सांस्कृतिक क्षणों का निर्माण किया, जो आज भी हमारी सामूहिक यादों का हिस्सा हैं। उनकी पहचान उनकी मूछों और शानदार मुस्कान के साथ-साथ, उनकी भारतीयता से थी, जो उनके हर काम में झलकती थी। उन्होंने यह साबित किया कि रचनात्मकता किसी भाषा या संस्कृति की मोहताज नहीं होती, बल्कि अगर वह दिल से निकली हो, तो हर किसी तक पहुंच सकती है।

जयपुर में जन्मे सात बहनों और दो भाइयों में एक पीयूष पांडे का सफर क्रिकेट के मैदान से शुरू होकर, चाय चखने और फिर विज्ञापन की दुनिया में पहुंचा। 1982 में अंतर्राष्ट्रीय विज्ञापन एजेंसी ओगिल्वी इंडिया में शामिल होने के बाद, उन्होंने कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा। बाद में उन्होंने अपनी खुद की विज्ञापन एजेंसी बना ली।

वह ओगिल्वी इंडिया के कार्यकारी अध्यक्ष और मुख्य रचनात्मक अधिकारी थे और चार दशकों से अधिक समय तक विज्ञापन की दुनिया में एक प्रतिष्ठित व्यक्ति रहे। वह सिर्फ एक विज्ञापन गुरु नहीं, बल्कि एक ऐसे कहानीकार थे, जिन्होंने जयपुर में जन्मे पीयूष पांडे का यह एक युग का अंत है, जिसे उन्होंने अपनी कहानियों से गढ़ा था। पीयूष पांडे की रचनात्मक विरासत हमेशा ज़िंदा रहेगी और आने वाली पीढ़ियों को प्रेरित करती रहेगी। उनके शब्द, उनके विज्ञापन और उनकी मुस्कान हमेशा हमारे साथ रहेंगे। उनका जाना विज्ञापन जगत के लिए एक अपूरणीय क्षति है।❑

अभिनेता असरानी नहीं रहे

मशहूर अभिनेता और हास्य कलाकार असरानी का 20 अक्टूबर 2025 को 84 वर्ष की आयु में लंबी बीमारी के बाद निधन हो गया। जयपुर में जन्मे गोवर्धन असरानी ने अपनी प्रारम्भिक पढ़ाई यहां के प्रतिष्ठित सेंट ज़ेवियर स्कूल में की। वे छुटपन से ही जयपुर के आकाशवाणी केंद्र के कार्यक्रमों में भाग लेने लगे।

1960 के दशक में पुणे की फिल्म इंस्टिट्यूट ऑफ इंडिया जो अब 'फिल्म एंड टेलीविजन इंस्टीट्यूट ऑफ इंडिया' कहलाती है से अभिनय प्रशिक्षण के पहले बैच से निकले असरानी ने 1967 में हिंदी फिल्म जगत में कदम रखा। उन्होंने 50 साल से ज़्यादा के करियर में 350 से अधिक हिंदी और गुजराती फिल्मों में यादगार भूमिकाएं निभाईं। उन्होंने हिन्दी और गुजराती फिल्मों का निर्माण और निर्देशन भी किया।

असरानी ने नायक, सह-कलाकार, और हास्य कलाकार की भूमिकाएं निभाईं। उन्होंने 'चला मुरारी हीरो बनने' और 'सलाम मेमसाहब' जैसी फिल्मों में मुख्य भूमिका भी निभाई। वह अपनी शानदार कॉमिक टाइमिंग और अनूठी शैली से तक दर्शकों के प्रिय बने रहे। फिल्म 'शोले' में उनका निभाया अंग्रेजों के जमाने के जेलर का किरदार अमर हो गया।

RS-CIT

RS-CIT एक विस्तृत बेसिक कंप्यूटर कोर्स है जिसकी मदद से कंप्यूटर के आवश्य कौशल सीख कर कंप्यूटर पर कार्य करने में दक्षता हासिल की जा सकती है एवं विभिन्न डिजिटल सुविधाओं के उपयोग के बारे में जानकारी प्राप्त की जा सकती है

RS-CIT कंप्यूटर कोर्स ही क्यों ?

- ई-लर्निंग पर आधारित, ऑडियो-विडियो कंटेंट तथा चरणबद्ध असेसमेंट
- राज्य सरकार की विभिन्न सरकारी नौकरियों में एक पात्रता ।
- शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्रों में लगभग 6500 ज्ञान केंद्र ।
- वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय कोटा द्वारा परीक्षा एवं प्रमाण पत्र ।

अन्य कोर्सेज

- Financial Accounting
- Spoken English & Personality Development
- Desktop Publishing
- Digital Marketing
- Advanced Excel
- Cyber Security
- Business Correspondence

Rajasthan Knowledge Corporation Limited

नजदीकी ज्ञान केंद्र के लिए www.rkcl.in पर विजिट करें या 9571237334 पर WhatsApp करें

स्वत्त्वाधिकारी राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति द्वारा क्लासीफाइड प्रिण्टर्स, जयपुर में मुद्रित तथा 7-ए, झालाना संस्थान क्षेत्र, जयपुर-302004 से प्रकाशित। संपादक- राजेन्द्र बोड़ा

अनौपचारिका: पृष्ठ–28, नवंबर, 2025 रजिस्ट्रार ऑव न्यूज पेपर, नयी दिल्ली के द्वारा पंजीकृत मासिक पत्रिका RNI 43602/77 ISSN No.2581-981x

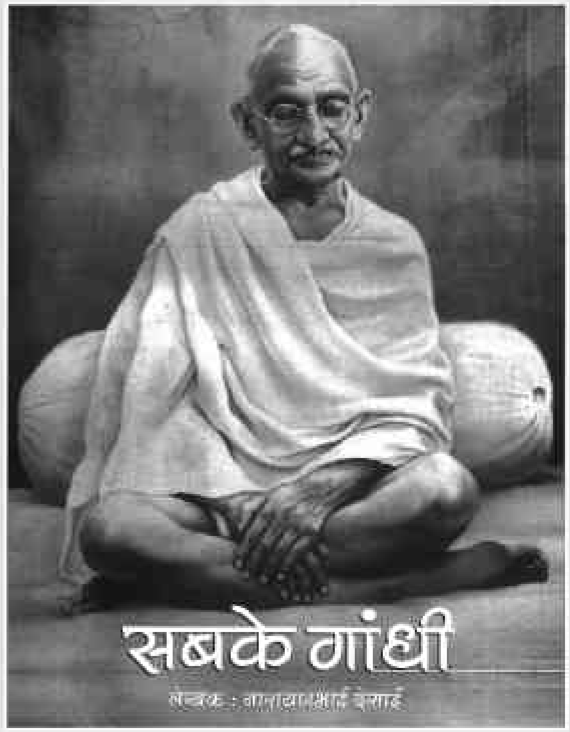

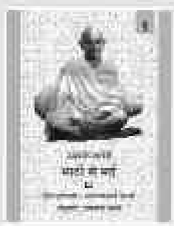

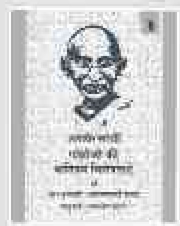

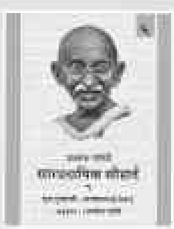

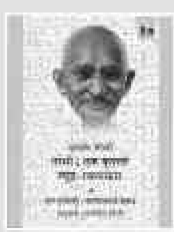

सबके गांधी

सहयोग राशि के लिए
बैंक विवरण

BANK OF BARODA
Rajasthan Adult Education Association
Branch Name : IDS Ext. Jhalana Jaipur
I.F.S.C. Code : BARB0EXTNEH
(Fifth Character is zero)
Micr Code : 302012030
Acct.No. : 98150100002077

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति
7–ए, झालाना संस्थान क्षेत्र,
जयपुर–302004

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति
7–ए, झालाना संस्थान क्षेत्र,
जयपुर–302004

12 पुस्तकों के एक सैट की सहयोग राशि रुपये 500/– मात्र डाक खर्च अलग से देय होगा।